नवम्बर '95–फरवरी '96, पन्द्रह रुपये

दायित्वबोध

उन बुद्धिजीवियों की पत्रिका जिन्होंने जनता का पक्ष चुना है

सांम्राज्यवाद आज [illegible] कागज़ी बाघ है

सर्वहारा अधिनायक[illegible] युग में अर्थनीति और राजनी[illegible]

जनवादी केन्द्रीयता [illegible] सवाल

आत्महत्या [illegible]

माओ और [illegible]

दायित्वबोध यहां से प्राप्त करें:

- जनचेतना, जाफरा बाजार, गोरखपुर–273001
- जनचेतना स्टाल, काफी हाउस के निकट, हजरतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 7 बजे तक)
- विश्वनाथ मिश्र, चेतना कार्यालय, बड़हलगंज गोरखपुर–273402
- ओमप्रकाश सिन्हा, 69, बाबा का पुरवा(पुराना) पेपर मिल रोड, निशातगंज, लखनऊ–226006
- सत्यम वर्मा, यूनीवार्ता, 5, पार्क रोड, लखनऊ
- प्रो० प्यारे लाल, 139, फूलबाग कालोनी, पन्तनगर कृषि विश्वविद्यालय, पन्तनगर–263145
- शहीद पुस्तकालय, द्वारा डा० दूधनाथ, जनगण होम्यो सेवासदन, मर्यादपुर, मऊ
- पण्डित बुक स्टाल, हजरतगंज, लखनऊ
- इण्डियन बुक डिपो, अमीनाबाद, लखनऊ
- एतकाद अहमद, डिपार्टमेण्ट ऑफ फाउण्डेशन ऑफ एजुकेशन, जामिया मिलिया इस्लामिया, नई दिल्ली
- बुक कार्नर, श्रीराम सेंटर, सफदर मार्ग, नई दिल्ली
- मैत्रेयी साहित्य संगम, सर्वे आफिस के सामने, लालबाग, के.डी.एस. दरभंगा–846004
- सेंट्रल न्यूज एजेन्सी, 29/30, कनाट सर्कस, नई दिल्ली
- पीपुल्स बुक हाउस, पटना कालेज के सामने, पटना–800004
- चन्द्रकेतु नारायण शर्मा, एडवोकेट, सांची पट्टी (बागमाली गाछी) स्थान–पो–हाजीपुर, जि–वैशाली (बिहार)
- डी. के. सचान, (शस्य वैज्ञानिक), A-308, आवास विकास (गंगापुर), रामपुर–244901
- पुस्तक–पत्रिका बिक्री केन्द्र, डिल्ली बाजार, ओकालो (पद्म कन्या स्कूल के पास), काठमाण्डू, नेपाल
- अरविन्द सिंह, 123, बिड़ला छात्रावास, बी०एच०यू०, वाराणसी

इस कठिन अंधेरे के दौर में, क्रांतिकारी प्रबोधन की नयी मुहिम के सहभागी बनें!

दायित्वबोध के सहयोगी बनें!!

हम सभी परिवर्तनकामी बुद्धिजीवियों का आह्वान करते हैं

दायित्वबोध को एक बौद्धिक–सांस्कृतिक आन्दोलन का वाहक बनाने में सहयोग दें!

- इसे ज्यादा से ज्यादा लोगों तक पहुंचायें!
- प्रतिक्रिया, सुझाव, रचनाएं भेजें!
- अपने–अपने क्षेत्र में व्यापक सदस्यता–अभियान चलायें और इसके वितरण का दायित्व सम्भालें!
- इसके लिए विज्ञापन जुटायें!

विज्ञापन दरें

चौथा कवर(रंगीन) रु. 10,000	चौथा कवर (सादा) रु. 5000	दूसरा–तीसरा कवर रु. 4000
सम्पूर्ण पृष्ठ (सामान्य) रु. 3000	आधा पृष्ठ रु. 1600	

सम्पर्क करें: प्रसार व्यवस्थापक, 3/274 विश्वास खण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ–226010 फोन: 393896

दायित्वबोध

वर्ष 3 अंक 1-2 नवम्बर '95–फरवरी '96

प्रधान सम्पादक
विश्वनाथ मिश्र
सहायक सम्पादक
अरविन्द सिंह
संयुक्त सम्पादक
ओमप्रकाश सिन्हा
सत्यम वर्मा
व्यवस्था प्रभारी
मीनाक्षी
प्रसार प्रभार
आदेश कुमार
आवरण
रामबाबू

सम्पादकीय कार्यालयः
3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ – 226 010

सम्पादन एवं संचालन
पूर्णतः अवैतनिक एवं अव्यावसायिक

स्वत्वाधिकारी विश्वनाथ मिश्र द्वारा एम. डब्ल्यू. 6/221, बेनीगंज, गोरखपुर से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा आफसेट प्रेस, नखास, गोरखपुर से मुद्रित

कम्पोजिंग
मुद्रण प्रभाग, राहुल फाउण्डेशन, 3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ–226010

एक प्रति : 15 रुपये
वार्षिक : 90 रुपये
आजीवन : 1000 रुपये

●

समस्त पत्रव्यवहार केवल सम्पादकीय कार्यालय के पते पर ही करें

साम्राज्यवाद
आज भी कागजी बाघ है......................4-16

सोवियत खेमे के बिखरने के बाद की दुनिया क्या सुख–शांति, समृद्धि और प्रगति से भरी हुई, युद्धों, भुखमरी, तबाही से मुक्त है? विश्व पूंजीवादी तंत्र के साथ अपनी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को पूरी तरह जोड़ देने की घोषणा करने वाले तीसरी दुनिया के देशों के शासकों ने जनता को क्या कुछ भी बेहतर दिया है? शीतयुद्ध की समाप्ति के बाद, पश्चिमी दुनिया की आम जनता क्या सुखी है? क्या इन देशों में शान्ति और निश्चितता का माहौल है? क्या आर्थिक महाशक्तियों के बीच गलाकाटू होड़ और व्यापारयुद्ध समाप्त हो चुका है? क्या विश्व पूंजीवादी अर्थतंत्र फल–फूल रहा है? यदि इन सभी प्रश्नों का उत्तर नकारात्मक हो तो कहा जा सकता है कि मृत्यु अक्टूबर क्रान्ति की नहीं हुई है, बल्कि उनके सपनों की हुई है जो मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था से एक समृद्ध–शान्त–सुखी दुनिया के निर्माण के भ्रम में जी रहे थे। और सच यही है कि उपरोक्त सभी प्रश्नों के उत्तर नकारात्मक हैं।

●

आर्थिक
आधुनिक पूंजीवाद की गैर क्लासिकीय परिघटनाएं :
वित्तीय अधिरचना और रोजगारविहीन विकास – *विश्वनाथ मिश्र*.......17

●

व्ला. इ. लेनिन का ऐतिहासिक लेख
सर्वहारा अधिनायकत्व के युग में अर्थनीति और राजनीति.......20

●

माओ त्से–तुङ का एक अत्यन्त प्रासंगिक लेख
जनवादी केन्द्रीयता का सवाल.......25

●

शिखर पर रुदन : आत्मविश्लेषण और आत्मआलोचना से
आत्मभर्त्सना तक पश्चिम की विचारयात्रा – *सत्यव्रत*.......29

●

जलते–कुरेदते प्रश्न
आत्महत्या का सामाजिक मनोविज्ञान – *राणा प्रताप*.......40

●

कला चिन्तनः सिनेमा
आइजेंस्टाइन और 'पूंजी' पर फिल्म बनाने की योजना – *बेट्टे बाइरो*.......45

●

साहित्य
जनता के साहित्य की पहचान – *डा. चमन लाल*.......43
सुरजीत पात्तर की कविताएं.......53
माओ की दो कविताएं.......52

●

पुस्तक चर्चा
एक शैतानी सौदेबाजीः निकारागुआ चुनावों में अमेरिकी हस्तक्षेप और
शीतयुद्धोत्तर काल में अमेरिकी विदेशनीति.......56

●

राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त (आठ)
पूंजीवाद के असाध्य रोग.......64

अक्टूबर क्रान्ति की 78वीं वर्षगांठ (7 नवम्बर) और फ्रेडरिक एंगेल्स (28 नवम्बर), स्तालिन (21 दिसम्बर) और माओ त्से-तुङ (25 दिसम्बर) की जन्मतिथियों के अवसर पर विशेष सम्पादकीय आलेख

अपनी बात

साम्राज्यवाद आज भी एक कागजी बाघ है! पहले से भी अधिक कागज़ी!

अनिश्चिततावाद के नियम के नये-नये समाजशास्त्रीय संस्करण गढ़ने की तमाम मशक्कतों, इतिहास और विचारधारा के अंत की तमाम घोषणाओं, और नये प्रत्ययवाद की बहुतेरी उत्तर आधुनिक व उत्तर मार्क्सवादी प्रस्तुतियों के बीच भौतिकवादी द्वंद्ववाद अपनी सार्वभौमिकता और सार्वकालिकता को नये सिरे से सिद्ध कर रहा है। दुनिया भर की मेहनतकश जनता और क्रान्तिकारी शक्तियों के लिए आज का समय जहां अभूतपूर्व संकट का दौर है, वहीं यह अपने गर्भ में अभूतपूर्व क्रान्तिकारी संभावनाओं को भी लिए हुए है।

शीतयुद्ध के अंत की घोषणा हो चुकी है। 1976 में माओ की मृत्यु के बाद चीन ने समाजवाद के मार्ग से विपथगमन किया और आज "बाजार समाजवाद" का देङपंथी झण्डा उड़ाते हुए वह पूंजीवाद की ढलान पर लगातार फिसलता जा रहा है। "चीनी ख्रुश्चेव" अपना काम कर चुका है। और अब वहां प्रतीक्षा है किसी "चीनी गोर्बाचोव" या/और "चीनी येल्तिसन" के अवतार की। अक्टूबर क्रान्ति के देश में और पूर्वी यूरोप में संशोधनवादी कुलीनतंत्र का राजमुकुट धूल में पड़ा हुआ है और नकली लाल झण्डे के चीथड़े बिखर गये हैं। उपनिवेशवाद और नवउपनिवेशवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय मुक्ति का झण्डा उठाकर लड़ने वाले तीसरी दुनिया के देशों का बुर्जुआ वर्ग आज स्वेच्छा से, अपनी खुद की मजबूरियों और जरूरतों से भूमण्डलीकरण के नये भेड़तंत्र में शामिल हो चुका है। अपनी जनता की लूट से पूंजी संचय की प्रक्रिया को जारी रखने के लिए वह पश्चिमी साम्राज्यवादी महाप्रभुओं का शरणागत हो चुका है। पश्चिमी पूंजी के दिग्विजय की राह की राष्ट्रीय बाधाएं कमोबेश समाप्त हो गई हैं। क्लासिकी पूंजीवाद के "स्वर्णयुग" की वापसी की इससे अनुकूल परिस्थितियां भला और क्या हो सकती हैं? समय आ गया है जब सभी पूंजीवादी विचारक, समाजशास्त्री, अर्थशास्त्री आदि यह सिद्ध कर सकें कि पूंजीवाद ही मानव सभ्यता के इतिहास का स्वर्णयुग है, पूंजीवाद ही मानव इतिहास की अंतिम मंज़िल है, इतिहास का अंत है और यह कि मानवता अधिकतम संभव और उत्कृष्टतम जो कुछ भी हासिल कर सकती है, वह पूंजीवाद ही है।

लेकिन क्या वे ऐसा कर पा रहे हैं? क्या विश्व परिस्थितियां उन्हें ऐसा करने दे रही हैं? क्या पेरिस कम्यून के स्वप्न नष्ट हो चुके हैं? क्या अक्टूबर क्रान्ति की मृत्यु हो चुकी है? क्या सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति अंतिम तौर पर विस्मृति के अंधेरे में खो चुकी है? पिछली सदी के अंत में एंगेल्स ने कहा था, "अंतरराष्ट्रीय सर्वहारा की सेना गठित हो रही है और पास आती जा रही नई शताब्दी उसे विजय की ओर ले जायेगी।" क्या यह आशावाद खोखला और असत्य प्रमाणित हो चुका है? सांस्कृतिक क्रान्ति के उत्तरवर्ती दौर में माओ त्से-तुङ ने कहा था, "अब से लेकर अगले पचास से सौ वर्षों तक का युग एक ऐसा महान युग होगा जिसमें

"सोवियत शिविर के बिखरने के बाद की दुनिया क्या सुख-शांति, समृद्धि और प्रगति से भरी हुई, युद्धों, भुखमरी, तबाही आदि से मुक्त दुनिया है? क्या रूस और पूर्वी यूरोप की जनता को पूंजीवाद का अमृतघट हासिल हो गया? प्रगति के लिए विश्व पूंजीवादी तंत्र के साथ अपनी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को पूरी तरह जोड़ देने वाले लातिन अमेरिका, एशिया और अफ्रीका के शासक वर्गों ने अपने-अपने

दुनिया की सामाजिक व्यवस्था बुनियादी तौर पर बदल जायेगी...।'' क्या समय ने इस भविष्यवाणी को गलत सिद्ध कर दिखाया है? अक्टूबर क्रान्ति की 78वीं वर्षगांठ (7 नवम्बर) माओ त्से-तुङ के जन्म की 101वीं वर्षगांठ (25 दिसम्बर), फ्रेडरिक एंगेल्स के जन्म की वर्षगांठ (28 नवम्बर) और स्तालिन के जन्म की वर्षगांठ (21 दिसम्बर) के अवसर पर इन प्रश्नों पर सोचना-विचारना सभी क्रान्तिकारी बुद्धिजीवियों के लिए सर्वथा प्रासंगिक है, स्वाभाविक है।

बीसवीं सदी के अंतिम दशक का आधा बीत चुका है। और उत्तरार्द्ध शुरू हो रहा है, जब **'दायित्वबोध'** की एक बार फिर शुरुआत हो रही है। **'दायित्वबोध'** को नियमित बना सकने के कई प्रयासों की विफलता के बावजूद उसी आशावाद के साथ फिर एक नई शुरुआत, जिसकी उद्दामता की बुर्जुआ बुद्धिजीवी खिल्ली उड़ाते हैं। हम फिर उम्मीद करते है कि तमाम आर्थिक-तकनीकी समस्याओं को हल करके 'दायित्वबोध' का प्रकाशन लगातार जारी रख सकेंगे क्योंकि हम इसे आज के बेहद बुनियादी और जरूरी कार्यभार को पूरा करने का एक अपरिहार्य साधन मानते है। यह नई शुरुआत ही एक संयुक्तांक से हो रही है, क्योंकि इस अंक को बेहद जरूरी और विचारोत्तेजक सामग्री से संग्रहणीय बनाने में अपेक्षित सहयोग जुटाने में समय भी अपेक्षा से कुछ अधिक लग गया, और कलेवर भी निर्धारित सीमा से बड़ा हो गया।

'दायित्वबोध' का यह नया अंक जिस समय और जिस मौके पर प्रकाशित हो रहा है, उस समय स्वाभाविक रूप से, संपादकीय के रूप में अपने पाठक साथियों से पुनः संवाद कायम करने के लिए दिमाग में स्वतः बिना सोच-विचारे, यही विषय उभरा जिससे हमने अपनी बात शुरू की है। तो आइये, मूल चर्चा पर वापस लौटें।

सोवियत खेमे और सोवियत शिविर के बिखरने के बाद, पिछले पांच वर्षों में दुनिया की जो तस्वीर उभरी है, आइये, उस पर एक नजर डालें। क्या यह सुख-शांति, समृद्धि और प्रगति से भरी हुई, युद्धों, भुखमरी, तबाही आदि से मुक्त दुनिया है? क्या रूस और पूर्वी यूरोप की जनता को पूंजीवाद का अमृत घट हासिल हो गया? प्रगति के लिए विश्व पूंजीवादी तंत्र के साथ अपनी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को पूरी तरह जोड़ देने की घोषणा करने वाले लातिनी अमेरिका, एशिया और अफ्रीका के शासक वर्गों ने अपने-अपने देशों की जनता को क्या कुछ भी बेहतर दिया है? शीतयुद्ध की समाप्ति के बाद, पश्चिमी दुनिया की आम जनता क्या सुखी है? क्या इन देशों में शान्ति और निश्चिंतता का माहौल है? सोवियत साम्राज्यवाद के पतन के बाद क्या आर्थिक महाशक्तियों के बीच गलाकाटू प्रतिस्पर्द्धा और व्यापारयुद्ध समाप्त हो चुका है? क्या विश्व पूंजीवादी अर्थतंत्र सुचारु रूप से फल-फूल रहा है?

देशों की जनता को क्या कुछ भी बेहतर दिया है? शीतयुद्ध की समाप्ति के बाद, पश्चिमी दुनिया की आम जनता क्या सुखी है? क्या इन देशों में शान्ति और निश्चिंतता का माहौल है? सोवियत साम्राज्यवाद के पतन के बाद क्या आर्थिक महाशक्तियों के बीच गलाकाटू प्रतिस्पर्द्धा और व्यापारयुद्ध समाप्त हो चुका है? क्या विश्व पूंजीवादी अर्थतंत्र सुचारु रूप से फल-फूल रहा है?

यदि इन सभी प्रश्नों का उत्तर नकारात्मक हो तो कहा जा सकता है कि मृत्यु अक्टूबर क्रान्ति की नहीं हुई है, बल्कि उनके सपनों की हुई है जो मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था से एक समृद्ध-शान्त-सुखी दुनिया के निर्माण के भ्रम में जी रहे थे। और सच यही है कि उपरोक्त सभी प्रश्नों के उत्तर नकारात्मक है।

"...तब पूरी संभावना है कि बात बिगड़ जाये!"

बीसवी सदी के अन्त में जिन नई प्रवृत्तियों के समुच्चय को भूमण्डलीकरण की संज्ञा दी जा रही है, उसकी वास्तविक समझदारी के लिए वित्तीय पूंजी के उद्भव और विकास के इतिहास पर एक बार सरसरी निगाह दौड़ा लेना जरूरी है।

उन्नीसवी शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश तक आते-आते पूंजी संचय और पूंजीवादी आर्थिक विकास सरपट रफ्तार से दौड़ने लगे थे। पर साथ ही यह समस्या भी पैदा हो चुकी थी कि एक के बाद एक करके तमाम उद्योगों में एक-दूसरे से होड़ करते हुए यूरोप के पूंजीपतियों ने अपने मुनाफे को इस हद तक बढ़ा दिया था कि अब और कमाने की गुंजाइश समाप्त हो चुकी थी। कमजोर कम्पनियां धराशायी हो रही थी और सबसे शक्तिशाली कम्पनियां भी अस्तित्व की लड़ाई लड़ रही थीं। औद्योगिक असंतोष, और हिंसा का बोलबाला था। पूंजी और श्रम दोनों ही निचुड़ रहे थे। पूंजीवाद के लिए यह निराशा और घातक आशंकाओं का दौर था। मुख्यतः 1873-1896 की इस पहली मंदी के दौर में ब्रिटिश आधिपत्य को यूरोपीय महाद्वीप के देशों और अमेरिका से (विनिर्माण क्षमता और निर्यात के स्तर में बढ़ोत्तरी के साथ-साथ) चुनौती मिलने लगी थी। गत शताब्दी के अंतिम दो दशकों में पूंजी के संकेन्द्रण और घनीभूतीकरण की तीव्र प्रक्रिया के दौरान बड़ी कम्पनियों ने छोटी कम्पनियों को निगल लिया और गलाकाटू प्रतियोगिता से बचने के लिए तथा दाम एवं उत्पादन नीतियों पर नियंत्रण के लिए उन्होंने कार्टेल, ट्रस्ट, होल्डिंग कम्पनी, वृहद कारपोरेशन आदि तरह-तरह की संस्थाएं खड़ी कीं। नये बाजार और कच्चे माल के स्रोतों की तलाश में व्याकुल इन बड़े पूंजीपतियों ने नये-नये उपनिवेशों के लिए पश्चिमी देशों के बीच तीव्र प्रतियोगिता और मारकाट को जन्म दिया। गत सदी के नवें दशक से लेकर

पहले विश्वयुद्ध के प्रारंभ तक उपनिवेशवादी शक्तियों ने प्रतिवर्ष औसतन 2,40,000 वर्गमील उपनिवेशों का विस्तार किया जो उसी सदी के प्रथम 75 वर्षों के प्रतिवर्ष औसत विस्तार का तीन गुना था। यूरोप, अमेरिका के आन्तरिक व्यापार और विदेशी व्यापार - दोनों ही क्षेत्रों में "मुक्त व्यापार" का स्थान संरक्षणवाद ने ले लिया। यह सदी प्रारंभ होते-होते उन्नीसवीं सदी का घरेलू बाजारोन्मुख यूरोपीय अमेरिकी पूंजीवाद एकाधिकारी कम्पनियों द्वारा नियंत्रित साम्राज्यवाद की शक्ल अख्तियार कर चुका था।

उन्नीसवीं सदी के अंतिम चतुर्थांश के पहले तक बैंक और अन्य मुद्रा पूंजी संचालक उद्योग और व्यापार चलाते रहने के लिए अल्पावधि ऋण देने तथा सरकारों को सेना बनाने या युद्ध के लिए, नहरें, रेल, जल संस्थान आदि सार्वजनिक सुविधाओं के लिए और बड़ी-बड़ी बीमा कम्पनियों की दूरगामी जरूरतों को पूरा करने के लिए ऋण देने का काम किया करते थे। उन्नीसवीं सदी के अंत में स्थिति यह हो चुकी थी कि बैंकिंग पूंजी के इन स्वामियों ने और अन्य तमाम किस्म के मुद्रा पूंजी संचालकों ने काफी पैसा कमाने के बाद उद्योगों की ओर ध्यान लगाया और देखते-देखते पूरी संकेन्द्रण प्रक्रिया की मुख्य चालक शक्ति बन गये तथा अर्थतंत्र की 'कमाण्डिंग हाइट्स' को नियंत्रित करने लगे। वित्तीय पूंजी के अदृश्य हाथ पश्चिमी देशों में एकाधिकारी घरानों के माध्यम से समस्त औद्योगिक गतिविधियों को नियंत्रित करने के साथ ही उपनिवेशों को भी नियंत्रित करने लगे। वित्तीय पूंजी के निर्यात ने दुनिया भर में नये बाजारों के निर्माण और कच्चे माल के स्रोतों पर कब्जे को सुगम बना दिया और साथ ही पूंजीपतियों की गलाकाटू प्रतिस्पर्द्धा के एक नये रूप को - विश्वबाजार पर प्रभुत्व के लिए अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा को जन्म दिया जिसकी चरम परिणति इस सदी में दो-दो महायुद्धों के रूप में सामने आई।

बहरहाल, हम यहां जिस मूल प्रश्न को रेखांकित करना चाहते हैं, वह यह कि इस सदी के शुरू में जब पूंजीवाद ने अपनी चरम अवस्था - साम्राज्यवाद की मंजिल में प्रवेश किया तो उस समय अर्थव्यवस्था की 'कमाण्डिंग हाइट्स' पर वित्तीय पूंजी का प्रभुत्व कायम हो चुका था और वित्तीय महाप्रभु वर्ग औद्योगिक पूंजीपति वर्ग का बड़ा साझेदार तो बन चुका था, फिर भी कुल मिलाकर वित्त अभी उत्पादन के अधीन या उसके लिए था, उससे पूर्ण स्वतंत्र नहीं हुआ था। पूंजी संचय की प्रक्रिया उस समय भी औद्योगिक पूंजी पर ही केन्द्रित थी, भले ही उसे नियंत्रित करने वाला 'स्टीयरिंग व्हील' वित्तीय पूंजीपति वर्ग के हाथों में आ गया था। वित्तीय पूंजीपतियों और औद्योगिक पूंजीपतियों के तमाम टकरावों के बावजूद, दोनों का साझा लक्ष्य इस्पात, तेल, रसायन, बिजली, कागज आदि के क्षेत्र में लगी उत्पादक पूंजी के मुनाफे को बढ़ाना था। बैंकों, शेयर दलालों और बाण्ड्स के व्यापारियों की वित्तीय दुनिया तब भी थी और कभी-कभी इस दुनिया के धनलोलुप निवासी सट्टेबाजी में इस तरह लिप्त होने के साथ ही समाज के एक बड़े हिस्से को भी उसमें शामिल कर लेते थे तथा उसमें से बहुतेरे तबाह भी हो जाते थे, पर कुल मिलाकर, सट्टेबाजी उद्योग की सतत धारा पर उठने वाले बुलबुले के समान ही थी। कमोबेश, यह स्थिति, विश्वस्तर पर इस सदी के पूर्वार्द्ध तक मौजूद रही। फिर इसमें परिवर्तन आने शुरू हुए और नवां दशक आते-आते स्थिति यह हो चुकी है कि वित्तीय पूंजी वास्तविक आर्थिक उत्पादन की सामान्य सहायक भूमिका से पूरी तरह स्वतंत्र होकर, सम्पूर्ण विश्व अर्थव्यवस्था पर अपना प्रभुत्व कायम कर चुकी है।

तीसरे दशक के अंत की अमेरिका की स्थिति को ध्यान में रखकर, कीन्स ने महामंदी के दौरान, 1936 में लिखा था : "उद्योग की स्थायी धारा पर उठने वाले सट्टेबाजों के बुलबुले कोई नुकसान नहीं पहुंचा सकते। लेकिन स्थिति तब गंभीर हो जाती है जब उद्योग ही सट्टेबाजी के भंवर में सतह पर तैरने वाला बुलबुला बन जाता है। जब किसी देश में पूंजी का विकास जुआघरों का उपउत्पाद (बाई-प्रॉडक्ट) बन जाता है, तब पूरी संभावना है कि बात बिगड़ जाये।"

कीन्स ने तब शायद यह सोचा भी नहीं था कि उनकी यह बात आधी सदी बाद एक सच्चाई बन जायेगी और किसी एक राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के लिए नहीं बल्कि पूरी विश्व अर्थव्यवस्था के लिए। और तब, "पूरी संभावना है कि "बात बिगड़ जाये।" जैसा कि 'विश्व पूंजीवाद के सुषेण वैद्य' ने आधी सदी पहले ही अंदेशा जाहिर किया था।

सिर्फ यही एक बात पूंजीवाद की सिद्धावस्था - विश्वव्यापी बाजार अर्थतंत्र की मुक्तावस्था में इंसानियत की सभी भीषण समस्याओं का समाधान देखने के दावों को थोथा सिद्ध कर देती है कि पूंजी का जो भी विश्वव्यापी प्रसार आज दिखायी दे रहा है, वह विश्व के प्रमुख मुद्रा-बाजारों में ऋण सर्जन में सतत् वृद्धि, मुद्रा-पूंजी के अंतरराष्ट्रीय आवागमन और सट्टेबाजी के रूप में है। विनिर्माण (मैन्यूफैक्चरिंग) और कच्चे माल के दोहन जैसी उत्पादक कार्रवाइयों से दूर, जो भी निवेश हो रहा है वह मुख्यत: शेयर बाजार, बीमा आदि अन्य वित्तीय क्षेत्रों, विज्ञापन, मीडिया आदि में हो रहा है। यानी आज वित्तीय प्रसार को गति एक स्वस्थ वास्तविक अर्थव्यवस्था के विकास से नहीं बल्कि उसके ठहराव से मिल रही है। यानी पूंजी संचय की क्रिया आज पूंजीवादी

कीन्स ने महामंदी के दौरान, 1936 में लिखा था : "उद्योग की स्थायी धारा पर उठने वाले सट्टेबाजों के बुलबुले कोई नुकसान नहीं पहुंचा सकते। लेकिन स्थिति तब गंभीर हो जाती है जब उद्योग ही सट्टेबाजी...

सामाजिक-आर्थिक दायरे में परिमाणात्मक विकास या प्रगति का भी द्योतक नहीं रह गई है, बल्कि इसके विपरीत एक भीषण विध्वंसक शक्ति बन गई है – पूंजीवाद के लिए भी और आम जनता के लिए भी। इस नये किस्म की वित्तीय संरचना का गठन द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर काल में शुरू हुआ और 1974-75 की तीव्र मंदी के बाद कमोबेश इसकी शक्ल उभर चुकी थी। अस्सी के दशक में यह परिपक्व हो चुकी थी और नब्बे के दशक के गुजरे पांच वर्षों में, एक के बाद एक – नये-नये अप्रत्याशित रूपों में इसके आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक परिणाम इस कदर सामने आये हैं, मानो इतिहास ने दुलकी चाल से चलना शुरू कर दिया हो। सामाजिक साम्राज्यवादी सोवियत संघ के विघटन के बाद पश्चिम की विश्व-विजय की दंभकारी घोषणाओं के बीच और समाजवाद की मृत्यु के दावों के बीच, विश्व पूंजीवाद, जो भूमण्डलीकरण के बाद हूबहू शाब्दिक अर्थों में बहुत अधिक विश्व पूंजीवाद है, गत पांच वर्षों के दौरान शताब्दी के गंभीरतम संकट का सामना कर रहा है और आने वाले दशकों में इससे मुक्ति का कोई मान्य नुस्खा उसके किसी भी सिद्धान्तकार को नहीं सूझ रहा है। तब क्या अपनी तमाम दहाड़ों के बावजूद, वह अपने को पहले हमेशा से भी अधिक स्पष्ट रूप में कागजी बाघ नहीं सिद्ध कर रहा है?

सदी के शुरू में घर संभालने आई वित्तीय पूंजी की खाला, जो अन्त में बन गई सट्टेबाजी की डायन!

"स्वतंत्र प्रतियोगिता" के युग में, उन्नीसवीं सदी के मध्य तक ब्रिटेन की श्रेष्ठता कायम हो चुकी थी। औद्योगिक और व्यापारिक शक्ति की सर्वोपरिता के साथ ही सर्वाधिक शक्तिशाली नौसैनिक शक्ति होने के नाते वह उपनिवेशों पर कब्जा जमाने और विदेश व्यापार के मामले में सभी यूरोपीय शक्तियों को पछाड़ चुका था। यूरोप का शक्ति संतुलन अपने पक्ष में करने के लिए एक गठबंधन खड़ा करने के साथ-साथ सैद्धान्तिक-वैचारिक समर्थन-आधार तैयार करने के लिए उसने "मुक्त व्यापार" के सिद्धान्त का ढिंढोरा पीटा तथा अंतरराष्ट्रीय मानक के रूप में सोने की स्थापना की जिसका प्रबंधन बैंक आफ इंग्लैण्ड द्वारा होने के चलते, प्रकारान्तर में पाउण्ड की सत्ता ही मजबूत हुई। इस ब्रिटिश प्रभुत्व का खात्मा अगली सदी के मध्य में हुआ पर इसकी प्रक्रिया गत शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश में 1873-1896 की महामंदी के दौरान ही शुरू हो चुकी थी। यूरोपीय महाद्वीप के कतिपय अन्य देशों और अमेरिका की विनिर्माण क्षमता और निर्यात का स्तर इंग्लैण्ड के आसपास पहुंचने के साथ ही विदेश-व्यापार में प्रतिस्पर्द्धा बढ़ती गई और "मुक्त व्यापार" के सिद्धान्त का स्थान संरक्षणवाद ने ले लिया। उपनिवेशों की छीना-झपटी और नये उपनिवेशों के निर्माण के रूप में यूरोप-अमेरिका के उन पूंजीपतियों की नये बाजारों की तलाश की व्यग्रता सामने आई जो अपने-अपने देशों के बाजारों को निचोड़ने के लिए मारकाट की अंतिम सीमा तक पहले ही पहुंच चुके थे। जर्मन मार्क की बढ़ती शक्तिमत्ता ने विश्व वित्तीय तंत्र के नियामक के रूप में लंदन मुद्रा बाजार की निर्विवाद स्थिति को डांवाडोल बना दिया था। ब्रिटिश सामरिक शक्ति की सर्वोच्चता को भी चुनौती मिलने लगी थी। शांति की गारंटी के रूप में कायम परंपरागत शक्ति संतुलन का तंत्र चरमराने लगा था जिसकी अंतिम परिणति प्रथम विश्वयुद्ध (1914-1919) के रूप में सामने आई।

उस समय से लेकर दूसरे महायुद्ध के अंत तक – यानी ब्रिटिश साम्राज्यवादी प्रभुत्व के निर्णायक अंत और उसकी जगह साम्राज्यवादी विश्व के शीर्ष पर अमेरिका के आसीन होने तक पूरा दौर एक ऐतिहासिक अफरा-तफरी का दौर था – दो-दो महायुद्ध, 1930 के दशक की महामंदी, मानक के रूप में सोने का परित्याग और डालर सोना मानक की स्थापना तथा नये-नये व्यापार एवं मुद्रा गुटों में विश्व का बंटवारा ....आदि-आदि। और इन सबसे बढ़कर पूरे पूंजीवादी विश्व को झकझोर देने वाली घटनाएं – 1917 की पहली समाजवादी क्रांति, नवोदित सोवियत संघ में समाजवादी निर्माण के दौरान औद्योगिक क्रान्ति की रफ्तार को भी पीछे छोड़ देने वाली गति से आर्थिक प्रगति, द्वितीय विश्वयुद्ध में लाल सेना के हाथों नात्सियों की पराजय, पूरे पूर्वी यूरोप का समाजवादी शिविर में शामिल होना और चीन में नई जनवादी क्रान्ति (1949)।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद साम्राज्यवादी देशों के बीच उभरे नये शक्ति सन्तुलन के अनुरूप विश्व पूंजीवादी तंत्र का पुनर्गठन हुआ। जैसा कि तय ही था; जर्मनी, जापान और इटली के ध्वस्त हो जाने, पूरे यूरोप के तबाह हो जाने और इंग्लैण्ड के दिवालियेपन के कगार पर खड़ा होने की स्थिति में नई पूंजीवादी विश्व व्यवस्था के शीर्ष पर अमेरिका आसीन हुआ जो युद्ध की विभीषिका से न केवल अप्रभावित बच निकला था, बल्कि युद्ध ने उसकी अर्थव्यवस्था को महामंदी की महामारी से मुक्ति दिलाकर नई सेहत बख्शने का ही काम किया था। ब्रेट्टनवुड्स करारनामे (1944) ने इसी नये आर्थिक यथार्थ को संहिताबद्ध करने का काम किया।

...के भंवर में सतह पर तैरने वाला बुलबुला बन जाता है। जब किसी देश में पूंजी का विकास जुआघरों का उपउत्पाद (बाई-प्रॉडक्ट) बन जाता है, तब पूरी संभावना है कि बात बिगड़ जाये।"

डालर दुनिया भर की मुद्राओं का सरदार बना और विश्व वित्तीय व्यवस्था में डालर-स्वर्ण मानक लागू हुआ, यानी अमेरिका ने तमाम देशों के केन्द्रीय बैंकों में जमा डालरों का मूल्य सोने में चुकाने का वायदा किया। एक बार साम्राज्यवादी गिरोह का सरगना बनने के बाद अमेरिका ने भी इंग्लैण्ड की ही तरह "मुक्त बाजार" और "मुक्त व्यापार" का मंत्रोच्चार शुरू कर दिया और मुख्यत: उसकी तथा समग्रत: पूरे साम्राज्यवादी गिरोह की पूंजी के विश्वव्यापी प्रवाह को उचित चैनलों से संचालित निर्देशित करने और पुराने औपनिवेशिक महाप्रभुओं को काबू में रखने के लिए विश्वबैंक और आई.एम.एफ. जैसी अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं की स्थापना हुई। युद्ध से तबाह जर्मनी और जापान को बैसाखी थम्हाते हुए, मार्क और येन को ताकतवर बनाने की प्रक्रिया में डालर खुद अपनी शक्ति बढ़ाता रहा। 1947 में गैट करार ने साम्राज्यवादी पूंजी और मुख्यत: अमेरिकी पूंजी की राह के व्यापारिक अवरोधों को कम करने की प्रक्रिया को नया संवेग प्रदान किया।

बाद के तीन दशकों में, उपनिवेशवाद की जकड़ से एक के बाद एक मुक्त होते गये तीसरी दुनिया के नवस्वाधीन देशों के शासक पूंजीपति वर्ग की राजनीतिक-आर्थिक आजादी की महत्वाकांक्षाओं को लगाम लगाने, उन्हें विश्व पूंजीवादी तंत्र की चौहद्दी में छुटभैयें की हैसियत में ज्यादा से ज्यादा बांधते जाने और सोवियत संघ के नेतृत्व में उभरे समाजवादी शिविर की आर्थिक राजनीतिक-सामरिक घेरेबंदी करने तथा हिन्दचीन से लेकर दक्षिण पूर्व एशिया तक में उभर रही जनक्रांतियों को दबाने में अमेरिका ने साम्राज्यवादी डकैतों के सरदार की भूमिका निभाई। उपनिवेशवाद की राख पर उसने अपना एक नवऔपनिवेशिक तंत्र खड़ा करने की कोशिश की पर यह तंत्र बहुत जल्दी ही संकटग्रस्त होकर चरमराने लगा और अस्सी का दशक आते-आते इसकी जगह एक नयी विश्व व्यवस्था - आर्थिक नवउपनिवेशवादी तंत्र ने लेना शुरू कर दिया।

इतिहास की तेज गति ने अमेरिकी प्रभुत्व को तीन दशकों से अधिक समय तक टिकने नहीं दिया। उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्षों के रूप में जारी विश्वव्यापी वर्ग संघर्ष की आंच में अमेरिकी विश्व विजय के मंसूबे भी झुलसते रहे। उत्तर औपनिवेशिक विश्व का निर्विवाद स्वामी होने की राह में समाजवादी खेमा भी एक चट्टान की तरह अड़ा हुआ था जिसका लाभ एक हद तक तीसरी दुनिया के नवस्वाधीन देश भी उठा रहे थे। 1956 में खुश्चेवी विश्वासघात और सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप में पूंजीवादी पुनर्स्थापना के कुछ ही समय बाद समाजवादी अतीत की विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक संरचना का लाभ उठाकर अपेक्षतया कमजोर उत्पादक शक्ति होने के बावजूद सोवियत संघ धूमकेतु की तरह एक आक्रामक साम्राज्यवादी अतिमहाशक्ति के रूप में उभरा। इस अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतियोगिता और लगभग एक दशक तक मंडराते तीसरे महायुद्ध के खतरे की परिस्थितियों का लाभ एक हद तक तीसरी दुनिया के देशों ने भी उठाया और दूसरी ओर जर्मनी और जापान जैसी नये सिरे से उभरती साम्राज्यवादी शक्तियों ने भी।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के लगभग दो दशकों के दौर में अमेरिकी नेतृत्व के अंतर्गत पूंजीवादी विश्व का विकास असाधारण तेज गति से हुआ। युद्ध से हुए नुकसान की भरपाई, युद्ध के दौरान आम उपभोक्ता सामग्रियों के उत्पादन में हुई कटौती से पैदा हुई अभाव की पूर्ति, युद्ध के लिए विकसित तकनोलॉजी के युद्धेतर उत्पादनों में इस्तेमाल तथा उष्ण और शीतयुद्धों की नई श्रृंखला ने पचास और साठ के दशक में पूंजी संचय के लिए अनुकूलतम परिस्थितियों का निर्माण किया। ऐसा लग रहा था कि पूंजीवाद का एक नया स्वर्णिम दौर आ गया है। पर पूंजी संचय का यह चरित्र है कि वह मांग की उस प्रेरक शक्ति को ही समाप्त कर देती है जो उसके लिए अनुकूल परिस्थितियां मुहैया कराती है। और यही हुआ। और पहले हमेशा की अपेक्षा जल्दी हुआ और तेज गति से हुआ। साठ का दशकांत आते-आते वह स्थिति पैदा हो चुकी थी जो 1974-75 की तीव्र मंदी में परिणत हुई। साठ के दशक के अंत तक यूरोप, विशेषकर जर्मनी और जापान विदेश व्यापार और वित्तीय क्षेत्र में अमेरिका से कंधा रगड़ने और उसके निर्विवाद प्रभुत्व को चुनौती देने की स्थिति में तेजी से पहुंचते जा रहे थे। डालर की शक्ति में सीधी गिरावट के कारण 1971 में डालर का सोना से सम्बन्ध विच्छेद हो गया और आई.एम.एफ. के माध्यम से एस.डी.आर. मानक स्थापित हुआ जो सोलह उन्नत पूंजीवादी देशों की मुद्राओं के समूह से जुड़ा था, जिनके महत्व का क्रम उनके आर्थिक बल के अनुसार निर्धारित होता था।

यह पूरी स्थिति अमेरिकी प्रभुत्व के खात्मे की नहीं बल्कि उसके पराभव की शुरुआत की द्योतक थी। द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर तेज आर्थिक विकास के दौर के अवसान के साथ ही यह शुरू हुई, फिर भी आर्थिक-राजनीतिक और सामरिक दृष्टि से अमेरिका की प्रमुखता बरकरार रही और अभी भी बरकरार है। इसका एक कारण सोवियत साम्राज्यवाद की सामरिक शक्ति के सामने पश्चिमी यूरोप की विवशता और जर्मनी तथा जापान की कमोबेश सैन्य शक्ति न होने की स्थिति थी। एक दूसरा कारण तीसरी दुनिया के देशों में अमेरिकी पूंजी की पैठ की मौजूदगी और अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय एवं अन्य संस्थाओं पर उसका प्रभुत्व भी था। फिर भी स्थिति यह हो गई थी कि उसे पश्चिमी यूरोप और जापान की चुनौती, सिकुड़ती वित्तीय सामर्थ्य, अपने घरेलू बाजार तक पर कमजोर होती पकड़ की नई सच्चाईयों के रूबरू होना पड़ रहा था। गहरे व्यापार युद्ध

पहले से ही औपनिवेशिक-नवऔपनिवेशिक लूट से निचुड़े हुए और तबाह-बर्बाद तीसरी दुनिया का बाजार इतना विकसित कदापि नहीं है कि वह पश्चिमी देशों की पूंजी की प्रचुरता की बीमारी दूर कर सके। और मंदी की शिकार विश्व अर्थव्यवस्था को नया संवेग प्रदान कर सके। इसी का नतीजा है कि सोवियत संघ के बिखरने तथा उसके घटक देशों और पूरे पूर्वी यूरोप के बाजार,

में उसे "मुक्त बाजार" का झंडा छोड़कर जर्मनी और जापान के खिलाफ तमाम संरक्षणात्मक कदम उठाने पड़ रहे थे, हालांकि तीसरी दुनिया के देशों के सामने ये सभी डाकू एक साथ मिलकर "मुक्त बाजार" और "खुली प्रतियोगिता" का ही कोरस गाते रहे और आज़ भी गा रहे हैं।

कमोबेश पूरी तीसरी दुनिया के देशों के बाजार और "बाजार समाजवादी" चीन के बाजार के दरवाजे पश्चिमी पूंजी के लिए खोल दिये जाने के बावजूद विश्व अर्थव्यवस्था में दीर्घकालिक मंदी का एक ऐसा अभूतपूर्व लम्बा दौर जारी है जिसमें बीच-बीच में सुधार के कुछ लक्षण दीखते हैं, तब तक फिर पुराना रोग और उग्र होकर उभर जाता है।

यहां यह चर्चा भी जरूरी है कि लातिनी अमेरिका में जारी मुक्ति संघर्षों, निकारागुआ की क्रान्ति और ईरान की क्रान्ति जैसी घटनाओं ने भी इस दौरान अमेरिका के साथ ही पूरे विश्व पूंजीवादी तंत्र को धक्का पहुंचाया और गत दो दशकों के दौरान साम्राज्यवादी तंत्र की कार्यप्रणाली में आने वाले बदलावों के लिए महत्वपूर्ण कारक की भूमिका निभाई। तीसरी दुनिया के देशों के शासक पूंजीपति वर्ग यद्यपि विश्व पूंजीवादी तंत्र में साम्राज्यवादी महाप्रभुओं के कनिष्ठ साझीदारों के रूप में सत्तर के दशक तक कमोबेश व्यवस्थित हो चुके थे लेकिन साथ ही विश्व स्तर पर अतिरिक्त मूल्य के विनियोग (एप्रोप्रियेशन ऑफ सरप्लस) में अपनी भागीदारी बढ़ाने के लिए वे ज्यादा से ज्यादा दवाब बनाने लगे थे। उपनिवेशवाद और नवउपनिवेशवाद के दौर के कमोबेश खात्मे की मंजिल तक आकर वे साम्राज्यवाद के विरुद्ध जनता के वर्गों के साथ खड़ा होने की ऐतिहासिक भूमिका तो छोड़ चुके थे पर इससे विश्व पूंजीवाद की शक्ति बढ़ी नहीं थी, बल्कि उसके आन्तरिक अन्तरविरोध और कलह-विग्रह ही कुछ और तीखे हो उठे थे।

1976 में चीन में पूंजीवाद की पुनर्स्थापना और अस्सी के दशक के अन्त तक सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप में राजकीय पूंजीवादी तंत्र के पश्चिमी ढंग के नवक्लासिकी पूंजीवाद में रूपान्तरण तथा सामाजिक साम्राज्यवादी सोवियत संघ के बिखरने तक के लगभग डेढ़ दशक के दौरान विश्व शक्ति संतुलन में महत्वपूर्ण परिवर्तन आये। पश्चिमी देशों को चुनौती देने वाली किसी महाशक्ति की नामौजूदगी की बाह्य स्थिति और अपने-अपने देशों में सापेक्षिक आजादी के साथ पूंजीवादी विकास की सीमित संभावनाओं के संतृप्त हो जाने की आंतरिक स्थिति के संयुक्त दबाव में तीसरी दुनिया के अधिकांश देशों ने अमेरिकी नेतृत्व वाले पश्चिमी खेमे और आई.एम.एफ.-विश्वबैंक-गैट निर्देशित नुस्खों और नीतियों को स्वीकार करके अपने बाजारों के दरवाजों को साम्राज्यवादी पूंजी के लिए लगभग पूरी तरह खोल दिया और यह प्रक्रिया आज भी जारी है। लेकिन पहले से ही औपनिवेशिक-नवऔपनिवेशिक लूट से निचुड़े हुए और तबाह-बर्बाद तीसरी दुनिया का बाजार इतना विकसित कदापि नहीं है कि वह पश्चिमी देशों की पूंजी की प्रचुरता की बीमारी दूर कर सके। और मंदी की शिकार विश्व अर्थव्यवस्था को नया संवेग प्रदान कर सके। इसी का नतीजा है कि सोवियत संघ के बिखरने तथा उसके घटक देशों और पूरे पूर्वी यूरोप के बाजार, कमोबेश पूरी तीसरी दुनिया के देशों के बाजार और "बाजार समाजवादी" चीन के बाजार के दरवाजे पश्चिमी पूंजी के लिए खोल दिये जाने के बावजूद विश्व अर्थव्यवस्था में दीर्घकालिक मंदी का एक ऐसा अभूतपूर्व लम्बा दौर जारी है जिसमें बीच-बीच में सुधार के कुछ लक्षण दीखते हैं तब तक फिर पुराना रोग और उग्र होकर उभर जाता है। सत्तर के दशक में विश्व अर्थव्यवस्था में मुद्रास्फीति के लगातार बढ़ते जाने और अस्सी के दशक में कर्ज न चुका पाने के संकट तथा विदेशी-मुद्रा विनिमय दरों की अनियंत्रित अस्थिरता और वित्त के अभूतपूर्व अंतर्राष्ट्रीयकरण आदि के चलते वर्तमान दौर में कर्ज और सट्टेबाजी का घटाटोप सा छा गया है।

बारूद भी मौजूद है और पलीता लगाने का सरंजाम भी!

इतिहास के जिस वर्तमान दौर में साम्राज्यवाद को अजेय, विश्व विजेता, या अमर सिद्ध करने की प्रत्यक्ष-परोक्ष कोशिशों का अनवरत सिलसिला जारी है, दरअसल वह इसके जर्जर, अंतकारी रोगों और अभूतपूर्व संकटों से ग्रस्त होने के स्पष्टतम साक्ष्य प्रस्तुत कर रहा है। जिस भूमण्डलीकरण को कुछ लोग विश्व पूंजीवाद की शक्ति समझ रहे हैं, वह दरअसल इसकी एक ऐसी गंभीर कमजोरी और असाध्य रोग है जो पहले कभी नहीं था।

विश्व पूंजीवाद की आर्थिक विकास की संभावनाएं निश्शेष हो चुकी हैं। इसलिए यह तय है कि इसका राजनैतिक वैधिक सामाजिक ढांचा भी बहुत टिकाऊ नहीं है। इसका ध्वस्त होना एक ऐतिहासिक सच है, जो शताब्दियों की नहीं, दशाब्दियों की बात है। **लेनिन** का यह कहना इन नई स्थितियों में भी सच है कि सबसे पहले इसकी कमजोर कड़ियां ही टूटेंगी। विस्फोट वहीं शुरू होगा जहां संकटों का दवाब अधिक है। पर आज स्थिति यह है कि एक बार कहीं विस्फोट हुआ तो फिर इनका अनवरत सिलसिला शुरू हो जायेगा। यह नास्त्रादेमस की भविष्यवाणी नहीं है, बल्कि इतिहास के अध्ययन के सुनिश्चित आधारों से निकाला जाने वाला नतीजा है जो बताता है कि **विश्व विजय की डींगें हांकता साम्राज्यवाद आज भी एक कागजी बाघ है, बल्कि पहले हमेशा से अधिक कागजी।** पिछले बीस वर्षों के भीतर विश्व पूंजीवाद की जो नई अभिलाक्षणिकताएं दिखाई दी हैं, जो नई-नई प्रवृत्तियां और रुझानें सामने आई हैं, उनके एक सरसरी ब्यौरे से

ही इस बात को आसानी से समझा जा सकता है।

द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर काल में, विशेषकर 1973 के बाद की एक आम बुनियादी परिघटना यह रही है कि विकसित पूंजीवादी देशों की अर्थव्यवस्थाओं के विकास की गति क्रमशः धीमी पड़ती हुई एक ठहराव की स्थिति में जा पहुंची है जिसकी विशिष्ट पहचान है - गहराती मंदी का एक लम्बा दौर जिसमें सुधार के कुछ लक्षण यदि बीच-बीच में दिखाई भी देते हैं तो बस एक-दो वर्ष के लिए।

विश्व बैंक के एक अध्ययन के अनुसार दुनिया के 17 विकसित पूंजीवादी देशों की औसत वार्षिक वृद्धि दर (प्रति व्यक्ति सकल घरेलू उत्पाद) 1950-1973 के बीच 3.6 प्रतिशत थी जो 1973.89 के बीच घटकर 2 प्रतिशत रह गई। गौरतलब बात यह भी है कि 1989-90 में भूतपूर्व सोवियत संघ के घटक देशों और पूर्वी यूरोप के "नई विश्व व्यवस्था" में शामिल होने तथा पूरे एशिया-अफ्रीका-लातिनी अमेरिका में मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था की विश्व बैंक-आई.एम.एफ.-गैट/डब्ल्यू. टी.ओ. निर्देशित नुस्खों के लागू होने के बाद पूंजी निवेश की नई संभावनाओं के पैदा होने के बावजूद 1990 से लेकर अब तक के दौर में विकसित पश्चिमी विश्व के देशों की वार्षिक वृद्धि दर में कोई महत्वपूर्ण सुधार नहीं आया है और अब स्थिति पहले से भी बदतर होने की संभावना प्रकट की जा रही है।

> **मंडी में जन्मे पूंजीपति वर्ग के राष्ट्रवाद की ऐतिहासिक सकारात्मकता निश्शेष हो चुकी है और पूंजीवादी जनवाद का झण्डा अब कहीं भी जनता को इकट्ठा करने वाला प्रतीक नहीं रह गया है। इन देशों में**

विश्व पूंजीवादी अर्थतंत्र की ठहराव की गंभीरता को आंकने के लिए यहां यह उल्लेख जरूरी है कि विश्व बैंक के उपरोक्त आंकड़ों में उत्पाद के रूप में सिर्फ माल और सेवाओं की चर्चा की गई है, मजदूरों और आबादी के अन्य हिस्सों को होने वाली आय की नहीं। फिर भी वृद्धि में आई गिरावट रोजगार के घटते अवसरों का द्योतक है, जो विकसित देशों में बढ़ती बेरोजगारी के अन्य आंकड़ों से भी पुष्ट होता है। युद्धों और शस्त्रास्त्रों के उत्पादन तथा विज्ञापन आदि पर होने वाले भीषण अपव्यय को भी उपरोक्त आंकड़ों के साथ जोड़कर देखें तो यह अनुमान लगाया जा सकता है कि जनता की बुनियादी जरूरतों और जीवन स्तर ऊपर उठाने के लिए जरूरी संसाधनों का आज पूंजीवाद कितने बड़े पैमाने पर दुरुपयोग कर रहा है।

साम्राज्यवादी देशों और पूरे विश्व पूंजीवादी तंत्र के आर्थिक ठहराव के सही अनुमान के लिए औद्योगिक उत्पादन का मानदण्ड अधिक सटीक है, क्योंकि विभिन्न, न मापी जा सकने लायक, आर्थिक गतिविधियों का समुच्चय होने के कारण सकल घरेलू उत्पाद अर्थव्यवस्था के विकास की सही तस्वीर नहीं प्रस्तुत करता। साठ, सत्तर और अस्सी के दशक में अमेरिका के औद्योगिक उत्पादन की औसतन वार्षिक वृद्धि दर क्रमशः 4.9 प्रतिशत, 3.3 प्रतिशत, और 2.7 प्रतिशत, पश्चिमी जर्मनी की क्रमशः 5.2 प्रतिशत, -4.1 प्रतिशत और -3. 9 प्रतिशत, जापान की 16 प्रतिशत, 4.1 प्रतिशत और 3.9 प्रतिशत, फ्रांस की 6 प्रतिशत, -3 प्रतिशत और -1 प्रतिशत, इंगलैंड की 2.9 प्रतिशत, -1.1 प्रतिशत और 1.8 प्रतिशत तथा इटली की 7.3 प्रतिशत, 3. 3 प्रतिशत और 1.3 प्रतिशत रही। 90 के दशक के गुजरे पांच वर्षों में भी गिरावट की इस आम प्रवृत्ति में, थोड़े बहुत चढ़ाव-उतार, त्वरण विमंदन के बावजूद कोई खास परिवर्तन नहीं आया है।

कुल मिलाकर, कम्प्यूटर और संचार व्यवस्थाओं की अधुनातन तकनीक जैसे प्रौद्योगिक उत्प्रेरकों से लेकर शीतयुद्धोत्तर काल के अन्य राजनीतिक पारिस्थितिक उत्प्रेरकों तक ने ठहरावग्रस्त अर्थव्यवस्थाओं को कोई गति नहीं दी है और गहराती मंदी का दीर्घकालिक दौर बदस्तूर जारी है।

मंदी के इस दौर में, मुनाफे के नये-नये अवसर ढूंढने और पैदा करने के लिए पूंजी ने भूमण्डलीय स्तर पर एड़ी-चोटी का पसीना एक कर दिया है। विश्व स्तर पर संरक्षणवाद की एक ..हर चल पड़ी है। दिलचस्प बात यह है कि पश्चिमी देश भूतपूर्व संशोधनवादी सत्ताओं वाले देशों और तीसरी दुनिया के देशों के शासक वर्गों पर अपने बाजार के दरवाजे ज्यादा से ज्यादा खोलने का दबाव देते हुए एक ओर मुक्त व्यापार के सिद्धान्त की दुहाई देते रहते हैं और दूसरी ओर आयात पर पाबंदियां लगाने की नई तरकीबें भी ईजाद करते रहते हैं। इन्हीं कारणों का एक प्रतिफलन यह है कि यूरोप के आर्थिक एकीकरण को पूरे पूंजीवादी विश्व का समर्थन मिल रहा है और दूसरा यह कि पूरे विश्व के पैमाने पर तीन मुख्य आर्थिक महाशक्तियों - अमेरिका, यूरोपीय समुदाय और जापान के ध्रुवों के इर्द-गिर्द कमजोर राष्ट्रों के व्यापार, निवेश और मुद्रा गुटों का गठन हो रहा है। इन तीन ध्रुवों के बीच अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा त्रिकोणात्मक संघर्ष के रूप में विगत तीन दशकों से लगातार गहराती जा रही है। उधर यूरोपीय समुदाय भी अन्तरविरोध मुक्त समावयवी एकल इकाई नहीं है। उसके उभरते आंतरिक ध्रुव जर्मनी और अन्य साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच भी उग्र स्पर्द्धा है।

साम्राज्यवाद के पूरे युग में अब तक की स्थिति यह रही है कि औद्योगीकृत राष्ट्रों के विदेशी निवेश का बहुत कम हिस्सा तीसरी दुनिया में लगता रहा है। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद, विशेषकर साठ के दशक में कच्चे माल एवं अन्य प्राथमिक उपजों के अतिरिक्त विनिर्माण के क्षेत्र में भी विदेशी पूंजी ने तीसरी दुनिया में प्रवेश किया तथा यहां के सस्ते श्रम और धनी एवं खुशहाल वर्गों की बढ़ती मांग का ज्यादा से ज्यादा लाभ उठाया, परंतु सैकड़ों वर्षों की औपनिवेशिक गुलामी से निचुड़े-पिछड़े इन देशों की विदेशी पूंजी पचा या सोख

साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष के कार्यभार आज पूंजीवाद विरोधी संघर्ष के कार्यभारों के साथ मिलकर नये दौर की नई क्रान्तियों की - नई समाजवादी क्रान्तियों की अन्तर्वस्तु और प्रकृति का निर्माण कर रहे हैं।

सकने की क्षमता औद्योगिक देशों के अधिक समृद्ध और वैविध्यपूर्ण बाजारों की तुलना में काफी कम है। 1989 में तीसरी दुनिया में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का हिस्सा दुनिया के कुल प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का 19 प्रतिशत था जबकि विकसित पूंजीवादी देशों में 81 प्रतिशत। अब पश्चिमी विश्व में व्याप्त ठहराव और व्यापारिक एवं मौद्रिक गुटों के गठन की लगातार बढ़ती रुझान के कारण, यूरोप, अमेरिका और जापान के बहुराष्ट्रीय निगम तीसरी दुनिया में ज्यादा से ज्यादा घुसपैठ की कोशिश कर रहे हैं। इन देशों की सरकारें अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं की मदद से हर तरह का दबाव बनाकर तीसरी दुनिया के देशों के राजकीय एवं निजी एकाधिकारी निगमों के विदेशी पूंजी से अपेक्षतया अधिक स्वायत्त-स्वतंत्र ढांचों को तोड़कर उनका पुनर्गठन कर रही हैं, संरक्षणवादी आयात बंदिशों को हटाकर आयात प्रतिस्थापन विकास नीतियों को उलट रही है तथा तदनुरूप राजनीतिक एवं वित्तीय संबंधों को बदल रही हैं। अपने आंतरिक संकटों के दबावों से विवश-निरुपाय तीसरी दुनिया के पूंजीपति शासक वर्ग कुछ मोल-तोल करने और लड़ने-झगड़ने के बावजूद इन शर्तों को मानने के लिए बाध्य हैं और अधिक एकीकृत या यूं कहें कि नये भूमण्डलीकृत विश्व पूंजीवादी तंत्र में साम्राज्यवाद के कनिष्ठ साझीदार की भूमिका स्वीकार कर चुके हैं। मंडी में जन्मे पूंजीपति वर्ग के राष्ट्रवाद की ऐतिहासिक सकारात्मकता निश्शेष हो चुकी है और पूंजीवादी जनवाद का झण्डा अब कहीं भी जनता को इकट्ठा करने वाला प्रतीक नहीं रह गया है। इन देशों में साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष के कार्यभार आज पूंजीवाद विरोधी संघर्ष के कार्यभारों के साथ मिलकर नये दौर की नई क्रान्तियों की - नई समाजवादी क्रान्तियों की अन्तर्वस्तु और प्रकृति का निर्माण कर रहे हैं। इसकी विस्तृत चर्चा यहां हमारा अभीष्ट नहीं है। इसलिए अपनी मूल चर्चा पर - यानी भूमण्डलीकरण के नये दौर की अभिलाक्षणिकताओं और साम्राज्यवाद के सर्वथा नये किस्म के असाध्य रोगों-संकटों की चर्चा पर वापस लौटें।

विगत लगभग पन्द्रह वर्षों के दौरान प्रत्यक्ष विदेशी निवेश में एक ऊंची छलांग के साथ जो बढ़ोत्तरी हुई है वह भूमण्डलीकरण की एक प्रमुख अभिलाक्षणिकता है। यह समझना मुश्किल नहीं है कि आर्थिक विकास मंद पड़ने के साथ ही न केवल घरेलू बाजार में होड़ तेज हो जाती है बल्कि पूंजी निर्यात के जरिये भी मुनाफे के मौकों की बेकल तलाश होती है।

1980 के दशक के अंतिम तीन वर्षों में (1980 की कीमतों के आधार पर) हर वर्ष 100 अरब डालर से अधिक प्रत्यक्ष विदेशी निवेश हो रहा था जो '70 के दशक के प्रथम तीन वर्षों के निवेश से दस गुना अधिक था। 1983 से 1989 के बीच विश्व स्तर पर निर्यात में मात्र 9 प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से और विश्व घरेलू उत्पाद में इससे भी कम दर से वृद्धि हुई जबकि प्रत्यक्ष विदेशी निवेश में 29 प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से बढ़ोत्तरी हुई। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि 1960 से 1989 के बीच कुल प्रत्यक्ष विदेशी निवेश में अमेरिका के हिस्से में 20 प्रतिशत से अधिक की गिरावट आई जबकि जर्मनी और जापान के हिस्से में (एक साथ जोड़कर) 19 प्रतिशत की वृद्धि हुई। 1990 के अंत तक दुनिया में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की मात्रा 15 खरब डालर से भी अधिक हो चुकी थी। 1980 के बाद के सिर्फ दस वर्षों में इसमें लगभग तीन गुने की वृद्धि हुई थी। पर यह निवेश वास्तविक उत्पादन - जीवनयापन के लिए जरूरी चीजों के उत्पादन में नहीं हो रहा था। और यह बात अत्यधिक महत्वपूर्ण ढंग से विश्व पूंजीवाद के खोखलेपन, असमर्थता और वार्धक्य को उजागर करती है कि प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की संरचना में खासकर विगत बीस वर्षों के भीतर बुनियादी बदलाव आये हैं और विनिर्माण एवं कच्चे माल के दोहन जैसी उत्पादक कार्रवाइयों से काफी दूर हटकर यह निवेश वित्त (खासकर तरह-तरह की सट्टेबाजी और ऋण देना), जमीन-जायदाद, बीमा, मीडिया, विज्ञापन और सेवा के अन्य दायरों में विस्तारित हुआ है। कहा जा सकता है कि भूमण्डलीकरण दौर में आकर पूंजीवाद का अनुत्पादक, परजीवी, परभक्षी और मानवद्रोही चरित्र जितना नंगा हुआ है, उतना पहले कभी नहीं हुआ था। गैरउत्पादक गतिविधियों में पूंजी निवेश के विस्तार और पूंजी निवेश के भूमण्डलीय उफान के परिणामस्वरूप तीसरी दुनिया के देशों में एक ओर तो विदेशी पूंजी की पहुंच और पकड़ पहले हमेशा से अधिक व्यापक और गहरी हुई है, पर दूसरी ओर इन देशों की अर्थव्यवस्थाओं का वास्तविक विकास (उत्पादक कार्रवाईयों के सन्दर्भ में) उतना नहीं हुआ है जितना कि वित्तीय गतिविधियों का विस्तार हुआ है।

भूमण्डलीकरण से खुशहाली के सभी दावों को झुठलाते हुए, आज का नंगा सच यह है कि विश्व पूंजीवादी अर्थतंत्र के समृद्धतम दिनों से लेकर ठहराव के वर्तमान दौर तक साम्राज्यवादी देशों और तीसरी दुनिया के देशों के बीच की खाई लगातार बढ़ती चली गई है। पश्चिमी विश्व की अर्थव्यवस्थाओं की तुलना में तीसरी दुनिया के देशों की अर्थव्यवस्थाओं का सम्मिलित प्रति व्यक्ति घरेलू उत्पाद 1960 में 8.7 प्रतिशत था जो 1970 में घटकर 7.3 प्रतिशत और 1987 में 6.1 प्रतिशत तक पहुंच चुका था। जैसा कि **हैरी मैगडॉफ** ('मंथली रिव्यू', फरवरी-मार्च 1992) लिखते हैं, "सीधी-सीधी बात इतनी है कि मानवीय एवं प्राकृतिक संसाधनों के असमान नियंत्रण पर आधारित व्यवस्था अपना पुनर्गठन करने के साथ-साथ अपनी अंतर्निहित

असमानताओं को भी बढ़ाती जाती है। अलग-अलग समुदायों में इस प्रक्रिया के आगे बढ़ने के तरीके अलग-अलग होते हैं - स्थानीय, राष्ट्रीय और विश्व स्तर पर इसके रूप भी अलग होते हैं। विश्व के पैमाने पर असमानता पर आधारित व्यवस्था मुख्यत: तीन तरीकों से पुनर्स्थापित हुई है - विदेशी निवेश, महाजनी और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार। इनमें पहले दो तरीके प्रमुख है। वर्तमान दौर में भूमण्डलीकरण के उफान का उत्स भी वस्तुत: यहीं है।''

पिछले दस वर्षों के दौरान सभी अल्पविकसित देशों का सम्मिलित भुगतान संतुलन लगातार घाटे में है। स्थिति यह है कि लातिनी अमेरिका के बाद अब एशिया-अफ्रीका के अधिकांश देश इस स्थिति में पहुंचने जा रहे है कि कुल लिये गये नये कर्ज का बहुलांश वे सिर्फ सूद भरने में खर्च कर देते है। पिछले कर्जों की किश्त चुकाने के लिए निजी और सार्वजनिक ऋणदाता लगातार कर्ज की नई-नई किश्तें देते जा रहे है ताकि प्रमुख मुद्रा बाजारों में बैंकों के भहराकर ढह जाने की स्थिति को रोका जा सके। साथ ही, आई.एम.एफ. और विश्व बैंक भुगतान संतुलन को सकारात्मक बनाने के लिए सामाजिक सुविधाओं में कटौती, वेतन वृद्धि पर रोक और आयात में भारी कटौती की शर्तें थोपने का काम करते रहे हैं जिसके चलते उत्पादन और निर्यात बढ़ाकर, कर्ज चुका पाने में ज्यादा से ज्यादा अक्षम होते गये तीसरी दुनिया के देश और अधिक कर्ज लेते चले जा रहे हैं। गत डेढ़ दशक के दौरान तीसरी दुनिया के देशों के सन्दर्भ में व्यापार शर्तों (निर्यात और आयात की कीमतों का अनुपात) में भी लगभग 20 प्रतिशत का क्षरण हुआ है जिससे स्थिति और अधिक बदतर हो गई है। कुल मिलाकर, '80 के दशक से लेकर अब तक दुनिया के पिछड़े क्षेत्रों से विश्व पूंजीवादी तंत्र के केन्द्र की ओर आर्थिक अधिशेष का हस्तांतरण पहले हमेशा से अधिक तेजी से हुआ है, ताकतवर राष्ट्रों और कमजोर राष्ट्रों के बीच की खाई पहले हमेशा की अपेक्षा अधिक तेजी से चौड़ी हुई है, ताकतवर राष्ट्रों पर कमजोर राष्ट्रों की निर्भरता के सम्बन्ध अधिक पुष्ट हुए है तथा साम्राज्यवाद के पूर्ववर्ती दौरों की ही भांति इस दौर में भी तीसरी दुनिया के देश ही विकसित देशों के दैत्याकार निगमों और वित्तीय संस्थाओं के पूंजी संचय के केन्द्र और उनके द्वारा अतिलाभ (सुपर प्राफिट) निचोड़ने की प्रक्रिया के शिकार बने रहे है। अनेकश: पैमानों से एकत्र आंकड़े बताते है कि पिछड़े देशों में भूमण्डलीकरण के दौर की नीतियां अमीरी-गरीबी के बीच की खाई को अभूतपूर्व गति से बढ़ा रही है, रोजमर्रे की बुनियादी जरूरतों की चीजों के भाव आसमान छू रहे है, बेरोजगारी पहले हमेशा की अपेक्षा तेज रफ्तार से बढ़ रही है, गांवों की गरीब आबादी अपनी जगह-जमीन से उजड़ती जा रही है तथा छोटे और मंझोले दर्जे के उद्योग तथा अन्य परम्परागत बड़े उद्योग भी तबाह होते जा रहे हैं। तीसरी दुनिया के देशों से कुछ ही बेहतर, लेकिन फिर भी काफी तबाही-बर्बादी की स्थिति रूस और पूर्वी यूरोप के देशों की भी है। भूमण्डलीकरण ने पूरे विश्व पूंजीवादी तंत्र के अभूतपूर्व संकटों के कुल योग को अत्यधिक संगठित ढंग से, कमजोर देशों पर थोप दिया है। इन्हीं देशों में बारूद की ढेरी एकत्र होती जा रही है और पलीता लगाने का सरंजाम भी।

सच तो यह है कि 'बात बिगड़ चुकी है!'

आज जब पीछे मुड़कर देखते हैं तो यह समझना अधिक सुगम लगता है कि **लेनिन** ने इस सदी के प्रारंभ में उभरे नये लक्षणों के आधार पर बीसवी सदी के पूंजीवाद को साम्राज्यवाद की संज्ञा देते हुए उसे ''पूंजीवाद की चरम अवस्था'' क्यों कहा था!

दरअसल पूंजीवाद के स्वस्थ नैसर्गिक विकास की आंतरिक गति और प्रेरणा तो इस सदी के प्रारम्भ में ही निश्शेष हो चुकी थी। तथ्य और आंकड़े बताते है कि 1930 के दशक जैसे लम्बे ठहराव और मंदी का दौर तो दरअसल बीसवीं सदी की शुरुआत के साथ ही शुरू हो चुका था। प्रथम विश्वयुद्ध ने, और फिर युद्धोत्तर काल में आटोमोबाइल क्रान्ति के प्रथम ज्वार, उसके तरंगित प्रभाव और युद्धजनित कतिपय अन्य कारणों से आई तेजी ने इस ठहराव के दौर को कुछ आगे टाल दिया था, पर सच यह है कि महामंदी की कारक शक्तियां पूंजीवादी व्यवस्था में मजबूती से जम गई थी और अब यह केवल समय की बात थी कि वे एकदम सतह पर आकर व्यवस्था की प्रधान चालक शक्ति बन जायें।

1930 के दशक की महामंदी की सर्वथा नई परिघटना, **रूजवेल्ट** के 'न्यू डील' और कीन्स के नुस्खों का ब्यौरा - इतिहास की परिचित कहानी है। '30 के दशक की महामंदी, जैसा कि **जॉन कैनेथ गालब्रेथ** ने ठीक ही कहा था, खतम नहीं हुई बल्कि (द्वितीय विश्वयुद्ध की) युद्ध अर्थव्यवस्था में समाहित हो गई। पर यह स्पष्ट हो गया था कि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की आम दशा ही अब ठहराव की है और मंदी ही उसकी स्वाभाविक आन्तरिक गति है। यदि ठहराव या मंदी की स्थिति विकसित पूंजीवादी देशों में दिखाई नहीं देती तो उसके लिए कुछ बाहय, गैर आर्थिक कारण जिम्मेदार हो सकते है।

भूमण्डलीकरण के दौर में आकर पूंजीवाद का अनुत्पादक, परजीवी, परभक्षी और मानवद्रोही चरित्र जितना नंगा हुआ है, उतना पहले कभी नहीं हुआ था।... भूमण्डलीकरण से खुशहाली के सभी

यह चर्चा की जा चुकी है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के पच्चीस वर्षों तक ऐसे बाह्य कारण मौजूद थे। जैसे ही ये कारण इतिहास के रंगमंच से हटे, तरुणाई के सबसे अच्छे दिनों की याद दिलाने वाली पूंजीवाद की "भव्यता" और चमक-दमक देखते-देखते उड़ गई और वह खुजली से बाल झड़े कुत्ते जैसा कुरूप नजर आने लगा। साठ के दशक के अंत में संकट के लक्षण उभरे और 1974-75 आते-आते तीव्र मंदी के उस लम्बे दौर की शुरुआत हुई जो अनिश्चितता, अराजकता, वित्तीय ध्वंस के नये-नये रूपों को जन्म देता हुआ, कुछ सुधरते और फिर से उसी संकट में धंसते हुए आज तक जारी है।

इसी गंभीर संकट से उबरने की प्रक्रिया में विश्व पूंजीवाद के आर्थिक पटल पर एक ऐसा नया प्रेरक उभरा जो अप्रत्याशित होते हुए भी विश्व पूंजीवादी तंत्र के भीतर पहले से ही घुस चुकी प्रवृत्तियों का तार्किक प्रतिफलन था। यह प्रेरक था एक नया वित्तीय ढांचा - एक भूमण्डलीकृत वित्तीय ढांचा जो पूरी विश्व अर्थव्यवस्था और इसके राष्ट्रीय घटकों के शीर्ष पर आसीन था और उसी से प्रादुर्भूत होकर भी उससे सापेक्षत: स्वतंत्र था। पहले भी, आम अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के अतिरिक्त दूसरे देशों को प्रभावित-नियंत्रित करने, युद्ध की तैयारियों और युद्ध के लिए बैंकों का इस्तेमाल होता था पर अंतरराष्ट्रीय बैंक लेन-देन विश्व अर्थव्यवस्था का बहुत छोटा हिस्सा हुआ करता था, जो पिछले बीस वर्षों में चौंकाने वाली गति से आगे बढ़ा और अपनी पारंपरिक भूमिका के सीमांतों को पार करके वित्तीय बाजारों की स्वजनित तेजी का केन्द्र विन्दु बन गया।

इस नये अंतरराष्ट्रीय वित्तीय तंत्र का निर्माण विभिन्न किस्म और स्तर के बैंकों तथा वित्तीय सम्पत्ति एंव सेवाओं के बहुविध रूपों में लेन-देन करने वाले डीलरों से मिलकर हुआ है जो औपचारिक-अनौपचारिक, नियंत्रित-अनियंत्रित बाजारों के एक संश्लिष्ट नेटवर्क से जुड़े हुए हैं। सामान्यतया वित्तीय प्रसार वास्तविक अर्थव्यवस्था में समृद्धि के साथ ही होता रहा है, पर विगत लगभग बीस वर्षों से जारी नये दौर की सच्चाई यह है कि वित्तीय प्रसार एक स्वस्थ वास्तविक अर्थव्यवस्था की जगह ठहराव पर पल रहा है। भूमण्डलीय वित्त बाजारों की तेजी और विश्वव्यापी आर्थिक मंदी एवं अस्थिरता का सहअस्तित्व परस्पर विरोधी लगता है, पर वास्तव में है नहीं। **हैरी मैगडॉफ** के अनुसार, "...पश्चिम की लड़खड़ाती अर्थव्यवस्थाओं के लिए ऋण विस्फोट व सट्टेबाजी महत्वपूर्ण स्तंभ का काम करते आ रहे थे। सरकारों का बजट घाटा तथा व्यापार एवं उपभोक्ता ऋणों की भरमार, मांग को बनाये रखने तथा सामानों व सेवाओं का उत्पादन गिरने न देने में सहायक सिद्ध हो रही थी। चूंकि अन्य उत्प्रेरक कमजोर पड़ रहे थे, अर्थव्यवस्था में ऋण की भूमिका महत्वपूर्ण होती जा रही थी। इसी बीच धन की फिराक में तमाम देशों का चक्कर काटने वाले वित्तीय संचालक सट्टेबाजी की अधिकाधिक गिरफ्त में फंसते चले गये। ऋण की आसमान छूती मांग पूरी करने के दबाव में मुद्राओं के बाजार आकार एवं प्रकार की दृष्टि से विस्तारित हुए। नये वित्तीय उपकरण अस्तित्व में आये जिसमें ऋण व्यवस्था के लिए विस्तृत आधार उपलब्ध हुआ और सट्टेबाजी के लिए दरवाजे पूरे खुल गये।"

दरअसल, बुनियादी आवश्यकता की चीजों व सेवाओं का उत्पादन करने वाली वास्तविक अर्थव्यवस्था पर आज विश्व स्तर पर इजारेदार घरानों का एक बहुत छोटा हिस्सा काबिज है। इस वास्तविक अर्थव्यवस्था का ढांचा ऐसा है कि यह भारी मुनाफा पैदा करती है पर साथ ही नीचे की आबादी की आय पर यही व्यवस्था एक निश्चित सीमा बांध देती है। नतीजतन उन्हीं वस्तुओं के उत्पादन की क्षमता के विस्तार में मुनाफे की गुंजाइश नहीं रह जाती और ये इजारेदार घराने वित्तीय सम्पत्ति में निवेश करना शुरू कर देते हैं। सत्तर के दशक में अर्थव्यवस्था में ठहराव आने पर यही हुआ। परम्परागत वित्तीय गतिविधियां इस ठहराव के दौर में धीमी हो गई। वित्तीय संचालक नये व्यवसाय की खोज में थे। ऐसी स्थिति में वास्तविक अर्थव्यवस्था से पलायन कर रही पूंजी वित्तीय क्षेत्र में खपने लगी और वास्तविक उत्पादन की प्रक्रिया से और औद्योगिक पूंजी के बड़े पार्टनर की स्थिति से सापेक्षत: स्वतंत्र वित्तीय पूंजी और गुब्बारे की तरह फूलता हुआ तथा पारे की तरह अस्थिर एक ऐसा वित्तीय तंत्र अस्तित्व में आया, जैसा पहले कभी नहीं था।

दावों को झुठलाते हुए, आज का नंगा सच यह है कि विश्व पूंजीवादी अर्थतंत्र के समृद्धतम दिनों से लेकर ठहराव के वर्तमान दौर तक साम्राज्यवादी देशों और तीसरी दुनिया के देशों के बीच की खाई लगातार बढ़ती चली गई है।

भूमण्डलीकरण के इस दौर में पहली बार ऐसा हुआ कि पूंजी संचय पूंजीवादी व्यवस्था की चालक शक्ति या उसके पूंजीवादी समाज के वास्तविक विकास का बुनियादी कारक-संकेतक नहीं रह गया। गत दो दशकों में हुए परिवर्तनों ने पूंजी संचय की क्रिया को कुछ इस तरह बदल डाला है कि यह ठहराव पर पलने वाली एक विध्वंसकारी शक्ति और भ्रमोत्पादक परिघटना बनकर रह गई है। इसके विनाशकारी नतीजे सामने हैं जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। पाल स्वीज़ी इस परिघटना को "वित्तीय पूंजी की विजय" की संज्ञा देते हैं। पूरे विश्व अर्थतंत्र पर सट्टेबाज पूंजी के आधिपत्य की इस स्थिति को हम वित्तीय पूंजी की अंतिम और निर्णायक जीत कहना पसंद करेंगे जो वास्तव में निकट भविष्य में (गौर करें, सुदूर भविष्य में नहीं, अगली कुछ एक दशाब्दियों में) साम्राज्यवाद की अंतिम पराजय का पूर्वसंकेत है। यह इस पराजय का ऐतिहासिक वस्तुगत आधार है जिसे भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया ने तैयार कर दिया है।

पूंजीवाद के इस घोर अनुत्पादक, परजीवी, जुआड़ी और मानवद्रोही चरित्र को इतिहास और पूरी दुनिया

का मेहनतकश अवाम बहुत दिनों तक बर्दाश्त नहीं कर सकता। पूंजीवाद की वास्तविक आर्थिक शक्ति का यह क्षरण और ठहराव का यह असाध्य रोग देखकर इतिहास का कोई विद्यार्थी आने वाली शताब्दी को इसकी मृत्यु की शताब्दी उतने ही दावे से कह सकता है जितने दावे से यह कहा जा सकता है कि उन्नीसवीं शताब्दी मुख्यतः पूंजीवादी क्रान्तियों के मुकम्मिल होने और पूंजीवादी विकास की शताब्दी थी तथा बीसवीं सदी साम्राज्यवाद की - क्षरणशील ठहरावग्रस्त पूंजीवाद की सदी रही है। इसी सदी में पूंजीवाद विरोधी क्रान्तियों के प्राथमिक प्रयोग हुए और असफल भी हुए। पर उन क्रान्तियों की असफलता के कारणों की विवेचना और साम्राज्यवाद के वर्तमान दौर के अध्ययन-समाहार के बाद यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि न तो बीसवीं सदी की समाजवादी क्रान्तियां अंतिम थीं और न ही विश्व पूंजीवादी तंत्र अमर अथवा पुनर्गठन या समायोजन की अनन्त संभावनाओं से युक्त है। बल्कि सच यह है कि वित्तीय पूंजी की वर्तमान स्थिति बताती है कि पूंजीवाद के लिए ठहराव तोड़ पाने के नये-नये उत्प्रेरकों की तलाश की संभावनाएं अब निश्शेष हो चुकी है।

यह आर्थिक जर्जरता वह बुनियाद है जिस आधार पर हमारा मानना है कि समाजवाद पर जीत की साम्राज्यवादी खुशियां नकली है और साम्राज्यवाद आज भी एक कागजी बाघ है। जिन कारणों से **जान मेनार्ड कीन्स** ने (पूर्वोद्धृत) कहा था कि "...पूरी संभावना है कि बात बिगड़ जाये"; वे कारण सामने हैं और कीन्स के अनुमान से भी अधिक विकट रूप में सामने है, इसलिए 'बात तो बिगडनी ही है!' बल्कि सच तो यह है कि 'बात बिगड़ चुकी है!'

पूंजीवाद की वास्तविक आर्थिक शक्ति का यह क्षरण और ठहराव का यह असाध्य रोग देखकर इतिहास का कोई विद्यार्थी आने वाली शताब्दी को इसकी मृत्यु की शताब्दी उतने ही दावे से कह सकता है जितने दावे से यह कहा जा सकता है कि उन्नीसवीं शताब्दी मुख्यतः पूंजीवादी क्रान्तियों के मुकम्मिल होने और पूंजीवादी विकास की शताब्दी थी तथा बीसवीं सदी साम्राज्यवाद की – क्षरणशील ठहरावग्रस्त पूंजीवाद की सदी रही

बिल्कुल ठीक, 'वाल स्ट्रीट जर्नल' के विश्लेषक महोदय!

यह विश्व इतिहास के एक नये संक्रान्तिकाल के समारम्भ का ही सूचक है कि आर्थिक मूलाधार के स्तर पर व्याप्त अनिश्चितता और अराजकता की स्थिति बिना कोई देर किये स्वयं को राजनीतिक धरातल पर घनीभूत रूप से अभिव्यक्त और प्रक्षेपित कर रही है।

यह बात तो हर पूंजीवादी समाज के लिए सच रही है कि सत्ता का वास्तविक केन्द्र कुछ सौ बड़े बहुराष्ट्रीय निगमों के बोर्ड रूम में स्थित हुआ करता है। पर आज स्थिति इससे भी कुछ आगे विकसित हो गई है जबकि कारपोरेट बोर्ड रूम में बैठे हुए महाप्रभुगण खुद ही वित्तीय बाजारों के अन्तरराष्ट्रीय नेटवर्क के जरिए काम करने वाली वित्तीय पूंजी द्वारा नियंत्रित हो रहे हैं, हालांकि ये बड़े बहुराष्ट्रीय निगम खुद ही वित्तीय बाजारों के बड़े खिलाड़ी है। यानी वास्तविक सत्ता का केन्द्र कारपोरेट बोर्डरूम से भी अधिक वित्तीय बाजारों में निहित हो गया है। और यही कारण है कि आज वित्तीय बाजारों की अराजकता और अनिश्चितता पूंजीवादी सरकारों की नीतियों, बुर्जुआ के जनतंत्र के चुनावी खेल, बुर्जुआ जनतंत्र के ज्यादा से ज्यादा बेनकाब होते जाने की स्थिति और अनेकशः अन्य परिघटनाओं-प्रवृत्तियों के रूप में राजनीतिक धरातल पर अपने को प्रकट कर रही है। तब भला इस संभावना से भी कैसे इंकार किया जा सकता है कि आर्थिक संकट और ठहराव की प्रक्रिया की वित्तीय ध्वंस के रूप में प्रकट होने वाली कोई भी परिणति बहुत जल्दी ही सामाजिक-राजनीतिक विस्फोट के रूप में स्वयं को प्रकट नहीं करेगी और इस स्थिति में तेजी से संगठित होती कोई क्रांतिकारी शक्ति उस विस्फोट को एक सामाजिक क्रान्ति में रूपान्तरित करने की कोशिश नहीं करेगी? लगातार मौजूद संकट लगातार सामाजिक-राजनीतिक विस्फोटों को जन्म दे सकता है और ऐसे में क्रान्तिकारी मनोगत शक्तियों के संगठित होने की क्रिया भी तेज होगी तथा उनकी कोशिशें साम्राज्यवाद की कमजोर कड़ी वाले देशों में कहीं से भी अक्टूबर क्रान्ति के नये संस्करणों के निर्माण की श्रृंखला शुरू कर सकती है। यह कोई विश्व क्रान्ति का समयबद्ध कार्यक्रम या मंसूबा नहीं बल्कि स्थितियों के विकास की आम दिशा का एक ऐतिहासिक भौतिकवादी आकलन है और इसे इसी रूप में देखा जाना चाहिए।

कुछ मूढ़मति पूंजीवादी कलमनवीस और भाड़े के प्रचारक-विचारक ऐसी अटकलें भी लगा रहे हैं कि भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया राष्ट्रीय सीमावरोधों को गिराकर किसी ऐसी सामंजस्यपूर्ण, अविभाज्य एकल इकाई जैसी विश्व-पूंजीवादी व्यवस्था का निर्माण करेगी जिसमें अंतरराष्ट्रीय स्वरूप वाली पूंजी अंतरराष्ट्र ीय संबंधों के नियम निर्धारित करके उन्हें स्वयं लागू करेगी। पर पूंजीवाद के सुधी सिद्धांतकार भी यह जानते हैं कि पूंजीवादी के किसी सामंजस्यपूर्ण भूमण्डलीय स्वरूप की - किसी एक ध्रुवीय विश्वपूंजीवाद की धारणा कितनी मजाकिया है। अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं का नया ताना-बाना केवल भूमण्डलीय वित्तीय जगत की बढ़ती जटिलता, कमजोरियों, विसंगतियों और अनिश्चितता को ध्यान में रखकर उसके यथासंभव अधिक सुचारु संचालन के लिए खड़ा किया गया है। पर लुटेरों के आपसी रिश्ते कभी भी सामंजस्यपूर्ण नहीं हो सकते। भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया खुद ही विश्व पूंजीवाद के आंतरिक अंतरविरोध और असामंजस्य की उपज है और अगले चक्र में वह

इन अंतरविरोधों और असामंजस्य को और अधिक गहरा बनाने का काम ही करेगी और यह चीज दिखाई भी दे रही है। गत बीस वर्षों के दौरान, खासकर '80 के दशक से पूरी दुनिया में अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा का एक नया दौर अमेरिका, यूरोप और जापान के बीच, इन तीन महाशक्तियों और अन्य साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच तथा यूरोप के भीतर जर्मनी और अन्य यूरोपीय शक्तियों के बीच शुरू हुआ है और उग्र होता चला गया है पश्चिमी साम्राज्यवादी देशों और रूस तथा पूर्वी यूरोप के देशों के बीच भी अन्तरविरोध की एक दूसरी तह मौजूद है। विकसित देशों और तीसरी दुनिया के देशों के बीच की खाई और अधिक चौड़ी हुई है। यहां फर्क केवल यह पड़ा है कि तीसरी दुनिया के देशों के शासक पूंजीपति अब भूमण्डलीय तंत्र में विश्वस्तरीय लूट के कनिष्ठ साझेदार के रूप में व्यवस्थित हो चुके हैं और साम्राज्यवदियों के साथ उनके अन्तरविरोध की प्रकृति दोस्ताना हो चुकी है। जनता और साम्राज्यवाद के बीच के उग्र होते जा रहे अन्तरविरोध में वे अब राष्ट्रीय जनवाद का झण्डा पूरी तरह फेंककर साम्राज्यवाद के पाले में खड़े हैं और तीसरी दुनिया के देशों के किसानों-मजदूरों और मध्यवर्ग के बुनियादी अंतरविरोध साम्राज्यवाद और देशी पूंजीवाद के साथ बन रहा है जिसका समाधान एक सर्वथा नये ढंग किसी समाजवादी क्रांति के द्वारा ही हो सकता है।

विश्व पूंजीवादी तंत्र की विविध नीतिगत और व्यावहारिक साझा जरूरतों की पूर्ति के लिए साम्राज्यवादी आपस में सहकार कर सकते हैं पर यह स्थायित्वपूर्ण नहीं हो सकता। वास्तव में पूंजीवादी व्यवस्था की कोशिश के भीतर ही विखंडन और संयोजन की शक्तियां साथ-साथ मौजूद रहती हैं जिनमें कभी एक तो कभी दूसरी की प्रधानता बनती रहती है लेकिन एक के बिना दूसरे की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

है। इसी सदी में पूंजीवाद विरोधी क्रान्तियों के प्राथमिक प्रयोग हुए और असफल भी हुए। पर उन क्रान्तियों की असफलता के कारणों की विवेचना और साम्राज्यवाद के वर्तमान दौर के अध्ययन-समाहार के बाद यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि न तो बीसवीं सदी की समाजवादी क्रान्तियां अंतिम थीं और न ही विश्व पूंजीवादी तंत्र अमर अथवा पुनर्गठन या समायोजन की अनन्त संभावनाओं से युक्त है।

आर्थिक नवउपनिवेशवाद के इस वर्तमान नये दौर में तीसरी दुनिया के देशों में आम जनता की तबाही-बर्बादी, मंहगाई-बेरोजगारी और धनी-गरीब के बीच जिस रफ्तार से खाई चौड़ी होने की शुरुआत हुई है, वह प्रक्रिया यहीं नहीं रुकने वाली है। बल्कि यह तो अभी शुरुआत है। पर अभी से ही स्थिति यह है कि मेक्सिको में चियापास प्रांत के गरीब किसानों ने दो वर्ष पहले जो विद्रोह किया, वह आग आज भी सुलग रही है। अन्य लातिनी अमेरिकी देशों में एक ओर जहां पुराने क्रांतिकारी मध्यवर्गीय छापामार संगठन अस्सी के दशक में या तो इस व्यवस्था में समायोजित हो गये या बिखर गये, वहीं दूसरी ओर नयी क्रांतिकारी शक्तियों ने मोर्चा सम्हालना शुरू कर दिया। पेरू की माओवादी पार्टी के नेतृत्व में जारी क्रांतिकारी संघर्ष दमन की हरचंद कोशिशों के बावजूद आज भी जारी है। एशिया और अफ्रीका के अधिकांश देशों में आम जनता के स्वतःस्फूर्त उभारों-आन्दोलनों का अनवरत क्रम जारी है। साथ ही, दूसरी ओर, इन अधिकांश देशों में व्यवस्था का संकट भी गहरा होता जा रहा है और शासक वर्गों के गहराते अन्तरविरोधों ने पूंजीवादी जनतंत्र और पूंजीवादी संसदीय राजनीति की कलई उघाड़कर रख दी है। भारत में कश्मीर और पूर्वोत्तर क्षेत्र हों, श्रीलंका के तमिल बहुल क्षेत्र हों या तुर्की-इराक में कुर्दों का इलाका - ये सभी राष्ट्रीयता के संघर्ष पूंजीवादी तंत्र के बढ़ते संकट और अंतरविरोध के ही एक रूप और अभिव्यक्ति हैं।

उधर रूस और पूर्वी यूरोप के देशों में मेहनतकश अवाम सड़कों पर आन्दोलित हो रहा है और दूसरी ओर संकटग्रस्त शासक वर्गों के धड़े और पार्टियां आपस में गुंथी हुई हैं। चीन में भी "बाजार अर्थव्यवस्था" की असलियत उजागर होने के साथ असंतोष इधर-उधर छिटपुट विद्रोहों-आन्दोलनों के रूप में लगातार फूटता रहा है और यह सिलसिला आज भी जारी है।

तो फिर भला कैसे यह माना जा सकता है कि पूंजीवाद ही मानव सभ्यता के 'इतिहास का अंत' है और यह कि मानवता ने अपना सर्वोत्कृष्ट इसमें अर्जित कर लिया है? साम्राज्यवाद की आर्थिक बुनियाद की जर्जरता बताती है कि यह पहले हमेशा की अपेक्षा अधिक संकटग्रस्त है। भूमण्डलीकरण के दौर में वित्तीय पूंजी की "निर्णायक जीत" पूंजीवाद की निर्णायक हार का पूर्वसंकेतक है। भूमण्डलीकरण की परिघटना के जो भी लक्षण हैं, वे साम्राज्यवाद की अधिकतम संभव शक्ति को और जड़ता की शक्ति से टिके रह सकने की क्षमता को प्रदर्शित कर रहे हैं और साथ ही इसकी बुनियादी कमजोरियों, अक्षमता, असाध्य अंतकारी रोगों और ढांचागत संकट को भी प्रकट कर रहे हैं। पूंजी का "अन्तरराष्ट्रीयकरण" अन्तरराष्ट्रीयतावादी सर्वहारा वर्ग की शक्तिमत्ता और अंतरराष्ट्रीय एकजुटता का तथा विश्व सर्वहारा क्रांति के नये क्रम की शुरुआत का एक नया वस्तुगत आधार तैयार कर रहा है।

इतिहास हमें यह कतई मानने की इजाजत नहीं देता कि प्रारंभिक समाजवादी प्रयोगों की पराजय समाजवाद की अंतिम पराजय है। खास तौर पर तब, जबकि महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति के युगांतरकारी प्रयोग का केन्द्रीय निचोड़ यही शिक्षा थी कि (i) समाजवादी समाज में पूंजीवादी पुनर्स्थापना का वस्तुगत आधार क्यों और किस रूप में मौजूद रहता है, (ii) रूस में पूंजीवाद की पुनर्स्थापना क्यों हुई और चीन में भी ऐसी संभावनाएं क्यों और किस रूप में मौजूद हैं, तथा (iii) समाजवादी संक्रमण की आम दिशा, रणनीति और आम रणकौशल क्या हों जिससे कि पूंजीवादी पुनर्स्थापना के खतरों को अधिकतम संभव सीमा तक कम किया जा

सकता है!

इन्ही शिक्षाओं से समृद्ध वैज्ञानिक समाजवाद का सिद्धान्त आज की नई सर्वहारा क्रांतियों का मार्गदर्शक सिद्धान्त है। और सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि क्रांतिकारी सर्वहारा शक्तियां बिखरी हुई स्थिति में ही सही, लातिनी अमेरिका और अफ्रीका से लेकर एशिया तक के अधिकांश देशों में मौजूद हैं। यहां तक कि रूस और चीन में, अमेरिका और जर्मनी में और कतिपय अन्य साम्राज्यवादी देशों में भी ऐसे क्रांतिकारी कम्युनिस्ट ग्रुप सक्रिय है। सामाजिक विकास और क्रांतियों का नियम फिर हमें यही बताता है कि अनुकूल वस्तुगत स्थितियों में ये बिखरी हुई चिनगारियां निश्चित तौर पर दावानल को जन्म देंगी।

अक्टूबर क्रांति ने वर्तमान सदी की शुरुआत में प्रमाणित किया कि साम्राज्यवाद का युग सर्वहारा क्रांतियों का युग भी है। चीन की क्रांति ने 1949 से लेकर सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति के दौर (1966-1976) तक यह लगातार सिद्ध किया और माओ ने यह बार-बार कहा कि साम्राज्यवाद एक कागजी बाघ है। साम्राज्यवादी घेरेबन्दी के बीच सोवियत संघ में समाजवादी निर्माण के कार्य को जारी रखते हुए और दुदांन्त नात्सी सेनाओं को धूल चटाकर स्तालिन ने भी यही सिद्ध किया कि साम्राज्यवाद एक कागजी बाघ है।

अमेरिकी पूंजीवादी का भोंपू **'वाल स्ट्रीट जर्नल'** अपनी एक रिपोर्ट (15 जुलाई, 1991) में लिखता है : "हालांकि इतिहास अपने को ठीक उसी रूप में नहीं दुहराता, मगर अपकेन्द्रीय (सेण्ट्रीफ्यूगल) रुझानों से यह संकेत मिलता है कि उसी तरह की स्थिति फिर लौट आई है जो (अ) उन्नीसवी सदी की महामंदी से लेकर प्रथम महायुद्ध तक और (ब) '30 की महामंदी से लेकर द्वितीय विश्वयुद्ध तक विद्यमान थी। इन समानताओं को यांत्रिक रूप से अधिक दूर तक खींच लेना गलतफहमियों को जन्म दे सकता है। मगर इस तरफ ध्यान देना चाहिए क्योंकि ये समानताएं अनायास नहीं है। दरअसल समान आर्थिक राजनीतिक कारणों से ही वर्तमान परिस्थितियां जन्म ले रही है।" बिल्कुल ठीक, **'वाल स्ट्रीट जर्नल'** के विश्लेषक महोदय, पर एक बात का उल्लेख आपने नहीं किया कि उपरोक्त दोनों ही स्थितियों ने सर्वहारा क्रांतियों को जन्म दिया था। आपका यह कहना भी ठीक है कि इन समानताओं को यांत्रिक रूप से दूर तक नहीं खींचा जाना चाहिए क्योंकि इतिहास कभी भी अपने को हू-ब-हू नहीं दुहराता। जैसे कि तीसरी दुनिया के देशों में संभावित सर्वहारा क्रांतियां अब पहले से भिन्न होंगी। साथ ही, उपरोक्त दोनों स्थितियों में (मुख्यत: नाभिकीय अवरोधक और साम्राज्यवादियों द्वारा गत दो विश्वयुद्धों से शिक्षा लेने के कारण) अधिक संभावना यही है कि शीत एवं उष्ण युद्धों के लगातार क्रम के बावजूद, शायद तीसरा विश्वयुद्ध न भी हो और उसके बिना सर्वहारा क्रांति के नये संस्करणों के सृजन का सिलसिला तीसरी दुनिया में कहीं से शुरू हो जाये। 'वाल स्ट्रीट जर्नल' के समझदार विश्लेषक महोदय की चेतावनी सारगर्भित है, लेकिन अफसोस ! साम्राज्यवादी इससे चेतकर ऐसा कुछ भी नहीं कर सकते जो उससे बहुत अधिक भिन्न हो जैसा कि वे अभी कर रहे हैं।

समाजवाद की पराजय और पूंजीवादी पुनर्स्थापना की वर्तमान स्थिति में कोई ऐसा वास्तविक ऐतिहासिक कारण नहीं पैदा हुआ है कि अब फिर से साम्राज्यवाद के कागजी बाघ को दुनिया की मेहनतकश जनता और क्रांतिकारी शक्तियां वास्तविक बाघ मान लें। सट्टेबाज पूंजी के आधिपत्य वाली अस्थिर-अराजक भूमण्डलीय अर्थव्यवस्था की बुनियाद पर खड़ा मानवद्रोही साम्राज्यवाद अब सिर्फ जड़ता की शक्ति के सहारे कायम है और उसका स्थान अब इतिहास की कूड़ेदानी में सुरक्षित हो चुका है। जिन कारणों ने अतीत में सर्वहारा क्रांतियों को जन्म दिया, वे कारण भूमण्डलीकरण के दौर में पहले हमेशा से अधिक पुष्ट और प्रबल रूप में मौजूद हैं और साम्राज्यवाद भी पहले हमेशा से अधिक कागजी बाघ के रूप में दुनिया की मेहनतकश जनता के सामने खड़ा है।

●

प्रसिद्ध अमेरिकी मार्क्सवादी लेखक **रेमण्ड लोट्टा** का विशद लेख **'माओवादी नियोजन का व्यवहार और सिद्धान्त : एक स्वप्नदर्शी और व्यावहारिक समाजवाद के पक्ष में'** किन्हीं कारणों से हम इस बार नहीं प्रकाशित कर पा रहे हैं। यह महत्वपूर्ण लेख **दायित्वबोध** के अगले अंक में प्रकाशित होगा। – सम्पादक

भूमण्डलीकरण के दौर में वित्तीय पूंजी की "निर्णायक जीत" पूंजीवाद की निर्णायक हार का पूर्वसंकेतक है।...पूंजी का "अन्तरराष्ट्रीयकरण" अन्तरराष्ट्रीयतावादी सर्वहारा वर्ग की शक्तिमत्ता और अंतरराष्ट्रीय एकजुटता का तथा विश्व सर्वहारा क्रांति के नये क्रम की शुरूआत का एक नया वस्तुगत आधार तैयार कर रहा है।

आधुनिक पूंजीवाद की गैर-क्लासिकीय परिघटनाएं: वित्तीय अधिरचना और "रोजगारविहीन विकास"

• विश्वनाथ मिश्र

हम आज भी साम्राज्यवाद और सर्वहारा क्रांतियों के युग में ही जी रहे है। लेनिन ने 'साम्राज्यवाद, पूंजीवाद की चरम अवस्था' में साम्राज्यवाद की जिन पांच बुनियादी अभिलाक्षणिकताओं को गिनाया है वे सारत: पूरी तरह से आज भी मौजूद है। परन्तु पिछले एक दशक के दौरान साम्राज्यवाद ने जिन दो प्रमुख अभिलाक्षणिक परिघटनाओं को पैदा किया है वे इस मायने में गैर-क्लासिकीय कही जा सकती है कि वे इससे पूर्व कभी इतने सुस्पष्ट और वर्चस्वशाली रूप में मौजूद नहीं थी। ये दो परिघटनाएं है : वित्तीय अर्थव्यवस्था का वास्तविक अर्थव्यवस्था के शीर्ष पर आसीन हो जाना, और "रोजगारविहीन विकास"।

वर्चस्वशाली वित्तीय अर्थव्यवस्था

आज वित्तीय अर्थव्यवस्था अभूतपूर्व रूप से एक वित्तीय अधिरचना का निर्माण कर चुकी है और समूची विश्व-अर्थव्यवस्था पर अपना वर्चस्व स्थापित कर चुकी है। वैसे तो वित्त-पूंजी का चलन उतना ही पुराना है जितना कि स्वयं पूंजीवाद का - क्योंकि दोनों सहजात ही हैं - पर आज के दौर में यह वास्तविक यानी उत्पादन-अर्थव्यवस्था से विच्छिन्न होकर एक वर्चस्वशाली सट्टाबाजार की अर्थव्यवस्था में तब्दील हो चुकी है। आज यह एक चौंकाने वाला तथ्य उपस्थित हो चुका है कि जहां लम्बे समय से यह मान्यता चली आ रही थी कि पूंजीवादी समाज में आर्थिक और राजनीतिक सत्ता का केन्द्र मुट्ठीभर दैत्याकार बहुराष्ट्रीय निगमों के काउंसिल रूम्स में स्थित होता है, वही अब यह केन्द्र सरक कर वित्तीय बाजार में चला गया है। आज स्थिति यह है कि साम्राज्यवादी देशों या उनके बहुराष्ट्रीय निगमों के अपने राष्ट्र से बाहर जाने वाले हर 8 डालर में से 7 सट्टाबाजार में जा रहे हैं। यह एक अभूतपूर्व, गैर-क्लासिकीय स्थिति है। यहां पर ब्रिटिश अर्थशास्त्री जॉन मेनार्ड कीन्स को उद्धृत करना प्रासंगिक होगा, जो उन्होंने 1936 में कहा था :

"सट्टेबाजी एक बुलबुले के रूप में कोई हानि नहीं पहुँचा सकती बशर्ते कि उद्यम एक सुस्थिर प्रवाह में गतिमान रहे। लेकिन स्थिति तब गम्भीर हो जाती है जब उद्यम ही सट्टेबाजी के जलावर्त में एक बुलबुला बन जाता है। जब एक देश का पूंजीवादी विकास एक जुएखाने का उप-जात (by-product) बन जाता है, तब कारोबार एक दुष्कृत्य बनने लगते है।"[1]

कीन्स ने यह टिप्पणी खासतौर से उस स्थिति को देख कर की थी जो 1920 के दशक के अन्त से अमेरिका में परिलक्षित होने लगी थी - उस समय अमेरिका विश्व का सबसे विकसित पूंजीवादी देश था। ऐसा लगता है जैसे यह एक अशुभ-सूचक भविष्यवाणी थी जो लगभग आधी शताब्दी बाद, खासतौर - से 1980 और 1990 के दशकों में, केवल अमेरिका पर ही नही, बल्कि समूचे विश्व पूंजीवाद पर चरितार्थ होने वाली थी। और आज यह चरितार्थ हो चुकी है।

वस्तुत: वित्त-पूंजी का कार्य वास्तविक अर्थव्यवस्था में "ऑयलिंग-ग्रीजिंग" करने वाले एक सहायक का कार्य होता है, पर, जैसा कि प्रसिद्ध मार्क्सवादी अर्थशास्त्री पॉल एम. स्वीज़ी का कहना है :

"वित्त पूंजी मानवीय आवश्यकताओं को पूरा करने वाले उत्पादन की वास्तविक अर्थव्यवस्था के एक विनम्र सहायक की अपनी मूल भूमिका से एक बार जब विच्छिन्न हो जाती है, तब यह अपरिहार्यत: सट्टेबाजी की पूंजी बन जाती है और एकमात्र अपने को ही अभिव्यक्त करने लगती है। पूर्ववर्ती कालों में कोई यह कल्पना भी नहीं कर सकता था कि सट्टेबाजी की पूंजी, जो उतनी ही पुरानी परिघटना थी जितना कि स्वयं पूंजीवाद, इतनी आगे बढ़ जायेगी कि एक राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था पर कौन कहे, समूचे विश्व पर अपना प्रभुत्व कायम कर लेगी। लेकिन ऐसा हो चुका है।"[2]

विश्व-पूंजीवाद की इस वर्चस्वकारी बन चुकी परिघटना की जड़ें कहां हैं? अर्थात् ऐसा क्यों हुआ है? इसका कारण स्वयं पूंजीवादी अर्थव्यवस्था यानी उसकी वास्तविक उत्पादन अर्थव्यवस्था में असमाधेय रूप से और अभूतपूर्व रूप से आ चुका ठहराव है। वैसे तो यह ठहराव इस शताब्दी के आरम्भ से ही आना शुरू हो गया था जो कभी समाप्त नहीं हुआ, बल्कि प्रथम विश्वयुद्ध की युद्ध-अर्थव्यवस्था में विलीन हो गया। युद्धोपरान्त यह ठहराव पुन: घनीभूत होने लगा, जो 1929-33 की महामंदी (ग्रेट डिप्रेशन) के रूप में विस्फोटित हुआ। यह महामंदी तब तक के विश्व-पूंजीवाद की अभूतपूर्व रूप से प्रथम ऐतिहासिक परिघटना थी, जो, जैसा कि जान केनेथ गालब्रेथ ने सही इंगित किया था, कभी खत्म नहीं हुई, बल्कि द्वितीय विश्वयुद्ध की युद्ध अर्थव्यवस्था में विलीन हो गयी।

द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त लगभग एक चौथाई शताब्दी यानी

"वित्त पूंजी मानवीय आवश्यकताओं को पूरा करने वाले उत्पादन की वास्तविक अर्थव्यवस्था के एक विनम्र सहायक की अपनी मूल भूमिका से एक बार जब विच्छिन्न हो जाती है, तब यह अपरिहार्यतः सट्टेबाजी की पूंजी बन जाती है और एकमात्र अपने को ही अभिव्यक्त करने लगती है। पूर्ववर्ती कालों में कोई यह कल्पना भी नहीं कर सकता था कि सट्टेबाजी की पूंजी, जो उतनी ही पुरानी परिघटना थी जितना कि स्वयं पूंजीवाद, इतनी आगे बढ़ जायेगी कि एक राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था पर कौन कहे, समूचे विश्व पर अपना प्रभुत्व कायम कर लेगी। लेकिन ऐसा हो चुका है।"

1940 के दशक के मध्य से 1960 के दशक के अन्त तक, पूंजीवादी अर्थव्यवस्था सापेक्षिक रूप से भली-चंगी होती रही। परन्तु इसके मुख्य कारक आर्थिक कम, गैर-आर्थिक ही अधिक थे। युद्ध से अमेरिका को सर्वाधिक लाभ पहुंचा था; उसके फोर्ट नॉक्स और मैनहट्टन के बख्तरबन्द खजानों में विश्व का लगभग 70 प्रतिशत सोना एकत्र हो चुका था। इसके बलबूते और इसके अतिरिक्त, युद्ध में विध्वस्त यूरोप (खासतौर से जर्मनी) और जापान की अर्थव्यवस्थाओं के पुनर्निमाण, युद्ध में संसाधनों के एकतरफा झोंक दिये जाने के कारण संसाधनों में आयी कमी की भरपायी, युद्ध-सम्बन्धी उद्देश्यों को पूरा करने के लिए नयी तकनोलाजियों, जेट विमानों एवं इलेक्ट्रानिक्स के आविष्कार, और सर्वोपरि रूप से, युद्धोत्तरकालीन शीत और उष्ण युद्धों के नये चक्रों ने पूंजीवादी अर्थव्यवस्था को खूब लाभ पहुंचाया। वस्तुतः यह अवधि पूंजीवाद के लिए एक नया स्वर्णयुग साबित हुई जो उसके यौवन-काल के पूंजी संचय की याद दिलाने वाली थी।

लेकिन यह तो स्वयं पूंजी के संचय का ही अन्तर्निहित तर्क है कि पूंजी संचय की प्रवृत्ति स्वयं उस मांग को ही कम करती जाती है जो इसे उत्प्रेरित करती है। और यही होना शुरू हुआ। 1960 के दशक का अन्त आते-आते ठहराव पुनः घनीभूत हो गया। 1974-75 की आर्थिक मंदी इसी की चरम अभिव्यक्ति थी, जो द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की सबसे गम्भीर परिघटना थी। अब एक नये आर्थिक उत्प्रेरक की पुनः आवश्यकता बुरी तरह महसूस की जाने लगी। और जो उत्प्रेरक आया उसका किसी ने पूर्वाभास तक नहीं किया था, पर यह भूमण्डलीय पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की सुस्थापित प्रवृत्तियों की ही तार्किक परिणति था। यह उत्प्रेरक था - वित्तीय पूंजी।

आज यह वित्तीय पूंजी लगभग प्रत्येक राष्ट्र और समूचे विश्व की अर्थव्यवस्था के शीर्ष पर एक वित्तीय अधिरचना निर्मित कर चुकी है। जैसा कि ठीक ऊपर इंगित किया जा चुका है, यह उसी ठहरावग्रस्त पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की तार्किक परिणति है। इसको स्पष्ट करने के लिए यहां पाल एम. स्वीजी को पुनः उद्धृत करना आवश्यक है:

"वास्तविक अर्थव्यवस्था जो मालों और सेवाओं का उत्पादन करती है जिसमें लोग जीवनयापन करने और पुनरुत्पादन करने में समर्थ होते हैं, अल्पतंत्रात्मक इजारेदारों की एक अत्यन्त लघु संख्या के कब्जे में है। यह इस तरह संरचित है कि उन्हें भारी मुनाफे दे, यहां तक कि उनके उपभोग की आवश्यकता और सामर्थ्य से भी अधिक पूंजीपति होने के नाते वे अपने मुनाफे का ज्यादा से ज्यादा हिस्सा निवेश करना चाहते हैं। पर जो संरचना उन्हें ये मुनाफे प्रदान करती है वही उसकी बुनियादी आबादी की आय पर कठोर सीमाएं भी थोप देती है। वह उत्पादों को किसी तरह बस उन्हीं प्रचलित कीमतों के स्तर पर खरीद पाती है जो अल्पतंत्रात्मक इजारेदारी को प्रचलित दर पर मुनाफा देते रहने के लिए निर्धारित की गयी होती हैं। अतः व्यापक उपभोग के लिए माल पैदा करने की क्षमता बढ़ाने से कोई मुनाफा नहीं हो सकता। ऐसा करना क्षमता से अधिक निवेश करना होगा, जो निश्चित तौर पर एक पूंजीवादी मूढ़ता ही होगी। तब वे अपने मुनाफों का क्या करें?

"तब वे वास्तविक उत्पादन में नहीं, बल्कि वित्तीय परिसम्पत्तियों में निवेश करते हैं। इसकी शुरुआत बढ़ते पैमाने पर 1970 के दशक में ही हो गयी, जब अर्थव्यवस्था एक बार फिर ठहराव में डूबने लगी थी। इसी की परिणति वित्त पूंजी की विजय के रूप में हुई है।"[7]

इस प्रकार वित्त पूंजी की वर्तमान वर्चस्ववाली स्थिति ने पूंजीवाद की वास्तविक अर्थव्यवस्था को पछाड़ दिया है। यह आज के पूंजीवाद की एक ऐसी गैर-क्लासिकीय परिघटना है जिसने पूंजीवाद की असमाधेय विसंगति और तर्कहीनता को पूरी तरह से बेनकाब कर दिया है।

"रोजगारविहीन विकास"

"भूमण्डलीकरण" और "नयी विश्वव्यवस्था" के इस चरण में एक और सर्वथा नयी अभिलाक्षणिक परिघटना प्रकट हुई है : "रोजगारविहीन विकास"। अर्थात् अब आर्थिक विकास रोजगार के अवसर नहीं देगा। वैसे तो पूंजीवाद अपनी मूल प्रकृति के अनुसार ही कभी भी रोजगार निर्दिष्ट नहीं रहा है; रोजगार का सृजन हमेशा ही उसके लिए एक आनुषंगिक और उस मुनाफाखोरी और पूंजी संचय का एक उपजात भर रहा है जो उसकी मुख्य चालक शक्ति है, फिर भी इसके पूर्व कभी भी इसने इतने खुले तौर पर "रोजगारविहीन विकास" का नारा नहीं दिया था। यह सही है आज वैज्ञानिक और तकनीकी क्रान्ति ने स्वचालन को इस हद तक सक्षम बना दिया है कि अब वह प्रत्यक्ष उत्पादन के क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि सेवाओं के क्षेत्रों, आदि में भी प्रत्यक्ष और तात्कालिक श्रम को लगभग पूरी तरह बहिष्कृत करके भी काम चला सकता है - और वस्तुतः वह ऐसा कर भी रहा है - लेकिन यह भी उसकी वास्तविक अर्थव्यवस्था के उसी संकट का सूचक है जिसके कारण अब वह अपने मुनाफे का बहुलांश वित्तीय बाजार और खासतौर से सट्टाबाजार में निवेश कर रहा है।

आज बेरोजगारी का आलम यह है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के प्रथम तीस वर्षों में जो सबसे ख़राब बेरोजगारी की दर थी, वह भी पिछले दशक की सबसे अच्छी बेरोजगारी की दर से कहीं कम ही थी। विकासशील और पिछड़े देशों की बात छोड़ें, अति विकसित पूंजीवादी देशों में बेरोजगारों की संख्या 3 करोड़ 80 लाख से ऊपर है जो कनाडा जैसे देश की पूरी श्रम शक्ति के लगभग तीन गुनी है। 8 फरवरी, 1994 को वाल स्ट्रीट जनरल ने लिखा : "बेरोजगारी सारी दुनिया में बढ़ रही है, और समाधान की संभावना अभी भी धुंधली ही बनी हुई है। अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन के चीफ आफ स्टाफ, अली तकी के अनुसार ज्यादा से ज्यादा लोग पहले हमेशा से अधिक बेरोजगार है या अल्परोजगारयुक्त। 12 करोड़ लोग बेरोजगारों के रूप में पंजीकृत है और अतिरिक्त 70 करोड़ लोग अल्परोजगार युक्त।"

इसी तरह, 14 मार्च 1994 को न्यूयार्क टाइम्स ने लिखा : "यूरोप की दृष्टि से, बेरोजगारी आज पश्चिमी जगत के सामने सबसे बड़ी सुरक्षा समस्या उपस्थित कर रही है, और जी-7 अब इसे गम्भीरता से स्वीकार कर रहा है। क्योंकि यदि हम इस समस्या का हल नहीं निकालते तो हमारी पूरी व्यवस्था अपने आप ही भहरा कर गिर जायेगी।"

> **"यूरोप की दृष्टि से, बेरोजगारी आज पश्चिमी जगत के सामने सबसे बड़ी सुरक्षा समस्या उपस्थित कर रही है, और जी-7 अब इसे गम्भीरता से स्वीकार कर रहा है। क्योंकि यदि हम इस समस्या का हल नहीं निकालते तो हमारी पूरी व्यवस्था अपने आप ही भहरा कर गिर जायेगी।" – न्यूयार्क टाइम्स**

और इसका आजकल समाधान क्या निकाला जा रहा है? वही "रोजगारविहीन विकास"। आज यह कहा जाने लगा है कि अर्थव्यवस्था को संतुलन में रखने के लिए बेरोजगारी आवश्यक है, कि "पर्याप्त बेरोजगारी के अभाव में मुद्रास्फीति में बढ़ोत्तरी होती है," वित्तीय बाजार विश्रृंखलित हो जाता है, और तरह-तरह की दूसरी समस्याएं खड़ी हो जाती हैं। दरअसल इस बात का पूर्व संकेत तो इस अभूतपूर्व चरम संकट के आरम्भिक काल में ही, अर्थात् 1968 में ही, मिल्टन फ्रिडमैन ने दे दिया था, जब उन्होंने अमेरिकन इकानॉमिक एसोसियेशन की 80वीं वार्षिक बैठक के अपने अध्यक्षीय भाषण में "बेरोजगारी की प्राकृतिक दर" को परिभाषित और व्याख्यायित किया था। उन्होंने बताया था कि "बेरोजगारी की प्राकृतिक दर" स्वयं अर्थव्यवस्था (यानी पूंजीवादी अर्थव्यवस्था) की संरचना में ही अन्तर्निहित होती है। हम यहां फिर याद दिला दें कि रोजगार देना पूंजीवाद का प्रधान नहीं बल्कि आनुषंगिक चरित्र है, पर जिस खुलेपन से यह स्वीकार किया गया वह पूंजीवाद के संकट की अभूतपूर्व असमाधेयता का ही पूर्व संकेत था जिसकी चरम अभिव्यक्ति आज "रोजगारविहीन विकास" की उद्घोषणा में हुई है। वैसे तो पूरे द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर काल में बेरोजगारी की दर बढ़ती ही गयी है, और "बेरोजगारी की प्राकृतिक दर" या "रोजगारविहीन विकास" को एक पुनरुक्ति भी कहा जा सकता है, परन्तु ऐसा पूरी नग्नता के साथ कहना पड़ा है, यही खास बात है, और यही खासियत बेरोजगारी या रोजगार के सम्बन्ध में पूंजीवाद की क्लासिकीय अवस्थिति से एक भिन्नता परिलक्षित करती है।

बहरहाल, आइए देखें कि "बेरोजगारी की प्राकृतिक दर" या "रोजगार विहीन विकास" की दर कितनी प्राकृतिक है। 1950 और 1960 के दशकों में बेरोजगारी की दर, सरकारी अनुमानों के अनुसार (जो कि हमेशा ही वास्तविकता से कम ही होते हैं), 3 से 4 प्रतिशत के बीच थी। 1970 के बाद से यह अनुमानित दर बढ़कर 4.9 और 9.7 प्रतिशत के बीच हो गयी। अब सवाल उठता है कि क्या यह तब भी "बेरोजगारी की प्राकृतिक दर" ही है तो एक नये स्तर पर छलांग लगा गयी है? कुछ अकादमिक अर्थशास्त्रियों का अनुमान है कि "बेरोजगारी की प्राकृतिक दर" 6.2 या 6.5 प्रतिशत है। कुछ इसे 5.9 और 6.3 प्रतिशत के बीच मानते हैं। मतलब यह कि जिसे "बेरोजगारी की प्राकृतिक दर" कहा जा रहा है वह इसी मायने में "प्राकृतिक" है कि वह बिल्कुल प्राकृतिक नहीं है।

अब आइये, इस बात की भी जांच कर लें कि "पर्याप्त बेरोजगारी के अभाव में मुद्रा-स्फीति में बढ़ोत्तरी होती"। ऊपर के आंकड़ों से यह तो स्पष्ट हो ही चुका है कि बेरोजगारी में "पर्याप्त" बढ़ोत्तरी हुई है। लेकिन क्या इससे मुद्रास्फीति में कमी आयी है? इसके जवाब में निम्नलिखित उद्धरण द्रष्टव्य है:

"यह जड़सूत्रता कि अत्यल्प बेरोजगारी मुद्रास्फीति में बढ़ोत्तरी करती है, पूरी तरह से एक बकवास है। 1960 के दशक में बेरोजगारी का वार्षिक दर 4.4 प्रतिशत थी, जबकि उपभोक्ता कीमतों में 3 प्रतिशत की दर से वार्षिक वृद्धि होती रही। प्राकृतिक दर की जड़सूत्रता के अनुसार बेरोजगारी के इस स्तर की वृद्धि के साथ बढ़ती कीमतों में गिरावट होनी चाहिए थी। फिर, बेरोजगारी तो उसके बाद के दशक में भी बढ़ती ही गयी, जो सरकारी अनुमान के अनुसार औसतन 6.2 प्रतिशत वार्षिक रही। लेकिन मुद्रास्फीति ने इस सिद्धान्त की अवज्ञा ही की, कीमतें औसतन 7.2 प्रतिशत वार्षिक दर से उछाल लेती रहीं। उत्तरवर्ती दशक की प्रवृत्ति ने भी इसी भांति प्राकृतिक दर के सिद्धान्त का उल्लंघन किया : बेरोजगारी की दर ऊंची बनी रही और कीमतें भी तेजी से बढ़ती रहीं। इसके अतिरिक्त, मजदूरी जिन्हें मुद्रास्फीति की बुराई की जड़ माना गया, इस पूरी अवधि के दौरान वस्तुतः कम ही होती रही। निजी गैर-कृषिगत उद्योगों में औसत वास्तविक साप्ताहिक मजदूरी जो (1982 के डालर की दर पर) 1969 में 300 डालर थी, घटकर, 1990 में 264.22 डालर रह गयी और तब से लगातार घटती ही जा रही है।"[4]

इस प्रकार "बेरोजगारी की प्राकृतिक दर" या "रोजगारविहीन विकास" के रूप में पूंजीवाद की इस गैर-क्लासिकीय परिघटना ने उसकी असमाधेय विसंगति और तर्कहीनता को उसी तरह उजागर कर दिया है। जैसे वित्त पूंजी की विजय ने – जिसकी चर्चा पीछे की जा चुकी है।

वित्त पूंजी की विश्वव्यापी विजय और उसके फलस्वरूप उसके द्वारा निर्मित वित्तीय अधिरचना तथा "रोजगारविहीन विकास" इन दो सर्वथा गैर क्लासिकीय अभिलाक्षणिक परिघटनाओं ने यह स्पष्ट तौर पर साबित कर दिया है कि अब पूंजीवाद के पास अपने वास्तविक विकास और विस्तार के लिए कोई उत्प्रेरक शेष नहीं रह गया है। वह सचमुच आज अपने ही "इतिहास के अन्त" से जूझ रहा है।

कुछ निराशोन्मत्त बुद्धिजीवी यह दलील दे रहे हैं कि हम वास्तव में एक नये प्रकार की औद्योगिक क्रान्ति – इलेक्ट्रानिक/ज्ञानात्मक/सूचनात्मक क्रान्ति की गहराइयों में प्रवेश कर रहे हैं। बेशक इस तथ्य और इसके महत्व से इन्कार नहीं किया जा सकता, पर इसके निहितार्थों की पूर्ववर्ती क्लासिकीय औद्योगिक क्रान्ति से तुलना करना बौद्धिक दिवालियेपन का ही सबूत देना होगा। क्लासिकीय औद्योगिक क्रान्ति ने तो वास्तविक अर्थव्यवस्था में अधिकाधिक पूंजीनिवेश का मार्ग प्रशस्त किया था, जिसकी बदौलत आधुनिक सर्वहारा अस्तित्व में आया। लेकिन आज की यह तथाकथित "नयी औद्योगिक", "उत्तर औद्योगिक", "नव आधुनिक" या "उत्तर आधुनिक" क्रान्ति – चाहे जो भी नाम दिये जा रहे हैं – अपनी क्लासिकीय अवस्थिति से 180 डिग्री के कोण पर घूम गयी है और उसी दिशा में बढ़ रही है – अपने "इतिहास के अन्त" की ओर। अब इसका चरित्र वास्तविक अर्थव्यवस्था में निवेश को कम से कम करते जाना, रोजगार सृजन से ज्यादा रोजगार को नष्ट करते जाना तथा उत्पादक शक्तियों का अभूतपूर्व विनाश करते जाना है।

इस प्रकार, निश्चय ही यह साम्राज्यवाद का नया गैर क्लासिकीय दौर है। और तब निश्चय ही इस नये दौर की सर्वहारा क्रान्तियों को भी वर्गसंघर्ष के नये गैर क्लासिकीय युक्तिविधानों और उपकरणों से लैस होना होगा।

संदर्भ

1. जान मेनार्ड कीन्स, पाल एम. स्वीजी द्वारा मंथली रिव्यू, जून 1994 में उद्धृत। **2.** पाल एम. स्वीजी, मंथली रिव्यू, जून 1994, पृष्ठ 22 **3.** वही, पृ. 8-9 **4.** पाल एम. स्वीजी, मंथली रिव्यू, दिसम्बर 1994

●

सर्वहारा अधिनायकत्व के युग में अर्थनीति तथा राजनीति

● व्ला. इ. लेनिन

इस बार हम व्ला. इ. लेनिन का वह ऐतिहासिक लेख प्रकाशित कर रहे हैं जो उन्होंने सोवियत सत्ता की दूसरी वर्षगांठ के उपलक्ष्य में तैयार किया था। यह लेख किन्हीं कारणों से अधूरा रह गया था, लेकिन इससे इसका महत्व और प्रासंगिकता जरा भी कम नहीं होते।

1971 की क्रान्ति के बाद समाजवादी संक्रमण की जटिल एवं पहली बार सामने आई समस्याओं से जूझते हुए लेनिन ने लगातार नये-नये प्रयोगों में पार्टी और मेहनतकश अवाम का नेतृत्व करते हुए वर्ग-विहीन समाज की दिशा में संक्रमण की प्रकृति एवं मार्ग की समझदारी कायम करने तथा उसके अनुसार पार्टी की रणनीति एवं आम रणकौशल को विकसित करने का काम जारी रखा। समाजवाद की समस्याओं पर चिन्तन करते हुए लेनिन ने, विशेषकर 1917 के बाद, जो निबन्ध एवं टिप्पणियां लिखीं उनमें 'सर्वहारा अधिनायकत्व के युग में अर्थनीति तथा राजनीति' का अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान है।

इस लेख में लेनिन ने मार्क्स और एंगेल्स की स्थापनाओं को आगे विकसित करते हुए नवोदित सोवियत समाजवादी सत्ता और समाज के ठोस अनुभवों के आधार पर यह स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि समाजवादी समाज पूंजीवाद और समाजवाद के बीच का एक निश्चित और दीर्घकालिक संक्रमण काल होता है जिस दौरान मरणासन्न पूंजीवाद और जन्म ले रहे कम्युनिज्म के बीच एक लम्बा, उत्कट और जीवन-मरण का संघर्ष जारी रहता है। यह संघर्ष बुर्जुआ वर्ग और सर्वहारा वर्ग के बीच वर्ग-संघर्ष का ही जारी रूप है, फर्क सिर्फ यह है कि पूंजीवादी समाज में यह संघर्ष पूंजीवादी राज्यसत्ता या पूंजीवादी अधिनायकत्व के अन्तर्गत जारी रहता है जबकि समाजवादी समाज में यह सर्वहारा अधिनायकत्व के अन्तर्गत जारी रहता है। लेनिन ने यहां फिर रेखांकित किया है कि कम्युनिज्म की दिशा में समाजवाद की यात्रा को जारी रखने की पहली बुनियादी आवश्यकता और गारण्टी सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व ही हो सकता है। इसी बुनियादी सच्चाई पर काउत्स्की, टीटो और ख्रुश्चेव से लेकर देङ सियाओ-पिङ और गोर्बाचोव तक ने तरह-तरह से पर्दा डालने की कोशिश की और आज भी तरह-तरह के सामाजिक जनवादी तथा अकादमिक मार्क्सवादी भी यही कर रहे हैं।

इस महत्वपूर्ण लेख में लेनिन ने स्पष्ट किया है कि समाजवादी समाज में पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली और छोटे पैमाने के माल उत्पादन के विविध रूप कम्युनिज्म के नवजात तत्वों के साथ-साथ मौजूद रहते हैं और सर्वहारा वर्ग के साथ-साथ बुर्जुआ वर्ग तथा किसान समुदाय सहित विविध निम्न पूंजीवादी वर्ग मौजूद रहते हैं। तत्कालीन रूस की चर्चा करते हुए उन्होंने स्पष्ट लिखा, है कि, "सर्वहारा अधिनायकत्व के युग में रूस की अर्थनीति छोटे पैमाने के माल-उत्पादन के विरुद्ध कम्युनिस्ट ढंग से एकीकृत — एक विशाल राज्य के पैमाने पर — श्रम के पहले पगों के संघर्ष का प्रतिनिधित्व करती है।"

इस **"पहले पगों के संघर्ष"** की व्यावहारिक समस्याओं-चुनौतियों की चर्चा करते हुए लेनिन ने शोषक वर्गों की शक्ति के अंतरराष्ट्रीय आधार - अंतरराष्ट्रीय पूंजी की भी चर्चा की है और फिर इस संघर्ष की रणनीति एवं आम दिशा की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की है। मार्क्सवाद के गंभीर अध्येता इस तथ्य से परिचित हैं कि लेनिन ने 1917 से 1923 के बीच लिखे गये कई रिपोर्टों, लेखों, प्रबंधों, टिप्पणियों और पत्रों में समाजवाद की इन समस्याओं, समाजवादी संक्रमण के दौरान जारी वर्ग संघर्ष के रूपों, सर्वहारा अधिनायकत्व के विकासमान रूपों एवं जटिल कार्यभारों तथा पूंजीवाद की पुनर्स्थापना के गंभीर खतरों एवं संभावनाओं पर पर्याप्त मात्रा में विचार किया है। आज न केवल इस लेख की बल्कि इस पूरी सामग्री के पुनर्पाठ की और इस पर गंभीर विमर्श की नई शुरुआत की अपरिहार्य आवश्यकता है।

इसी दृष्टि से हम अक्टूबर क्रान्ति की 78वीं वर्षगांठ (7 नवम्बर) के अवसर पर लेनिन का यह लेख प्रस्तुत कर रहे हैं।

समाजवाद की प्रकृति के बारे में बुर्जुआ विश्व और संशोधनवादियों, सामाजिक जनवादियों तथा रंग-बिरंगे अकादमिक मार्क्सवादी तोताओं-मैनाओं द्वारा फैलाये जाने वाले विभ्रमों का निराकरण करने के साथ ही यह लेख पूंजीवाद की पुनर्स्थापना के बुनियादी कारणों की समझदारी कायम करने में भी पाठकों की काफी मदद करेगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

जो लोग उत्तर आधुनिकतावादियों के नवप्रत्ययवाद तथा नीत्शे, स्पेंग्लर, हेडेगर आदि के नये-नये जोकरी अवतारों के शब्द जालों से दिग्भ्रमित नहीं हैं; जो इस समय को 'इतिहास का अंत' नहीं मान बैठे हैं; जो विश्व-पूंजीवाद को अजर-अमर मानने के बजाय आर्थिक नवउपनिवेशवाद के दौर के असाध्य ढांचागत संकटों और नये भूमंडलीकृत विश्व में वित्तीय पूंजी की नई कार्यप्रणाली का मार्क्सवादी ढंग से अध्ययन कर रहे हैं; जो समाजवाद की सामयिक पराजय को अंतिम नहीं मानते और जो अक्टूबर क्रान्ति के नये संस्करणों के निर्माण के लिए वर्तमान विश्व पूंजीवाद के साथ ही समाजवादी संक्रमण की प्रकृति एवं समस्याओं का, विगत प्रयोगों का और पूंजीवादी पुनर्स्थापना के कारणों का गंभीरतापूर्वक अध्ययन करना चाहते हैं, उनके लिए यह लेख पढ़ना जरूरी है। यदि उन्होंने पहले कभी पढ़ा हो तो भी फिर से पढ़ना जरूरी है।

— सम्पादक

सोवियत सत्ता की दूसरी वर्षगांठ के उपलक्ष्य में मैंने ऊपर शीर्षक में इंगित विषय पर एक छोटी सी पुस्तिका लिखने की बात सोची थी। परंतु नित्यप्रति के काम के रेले के कारण मैं अब तक कुछ पृथक भागों की आरंभिक तैयारी से आगे बढ़ने में सफल नहीं हो सका। इसलिए मैंने संबद्ध प्रश्न पर अपनी दृष्टि में सबसे सारभूत विचारों की संक्षिप्त, सारांशात्मक विवेचना का प्रयत्न करने का निर्णय किया। स्वभावत: विवेचना के सारांशात्मक स्वरूप में कई कठिनाइयां तथा त्रुटियां होती हैं। परंतु, हो सकता है, पत्रिका योग्य छोटे से लेख के लिए सब कुछ के बावजूद इस एक सरल-साधारण ध्येय की पूर्ति करना संभव हो : प्रश्न को प्रस्तुत करना तथा उस पर विभिन्न देशों के कम्युनिस्टों द्वारा विचार-विमर्श के लिए ताना-बाना मुहैया करना।

1

सैद्धांतिक दृष्टि से इसमें कोई संदेह नहीं है कि पूंजीवाद तथा कम्युनिज्म के बीच एक निश्चित संक्रमण-काल होता है। वह सामाजिक अर्थव्यवस्था के इन दोनों ही ढांचों के गुणों या विशेषताओं को जोड़े बिना नहीं रह सकता। यह संक्रमण-काल मरणासन्न पूंजीवाद तथा जन्म ले रहे कम्युनिज्म के बीच संघर्ष की अवधि हुए बिना नहीं रह सकता; - या दूसरे शब्दों में: पराजित हो चुके, परंतु उन्मूलित न हुए पूंजीवाद तथा जन्म ले रहे, परंतु अभी सर्वथा दुर्बल कम्युनिज्म के बीच संघर्ष की अवधि हुए बिना नहीं रह सकता।

केवल मार्क्सवादियों के लिए ही नहीं, अपितु विकास के सिद्धांत से इस या उस रूप में परिचित सभी शिक्षित व्यक्तियों के लिए भी इस समग्र ऐतिहासिक युग की, जिसे संक्रमण-काल की ये विशेषताएं विशिष्ट बनाती हैं, आवश्यकता स्वत: स्पष्ट होनी चाहिए। परंतु समाजवाद में संक्रमण के बारे में सारे तर्क-वितर्कों की, जो हम निम्नपूंजीवादी जनवाद के आधुनिक प्रतिनिधियों से सुनते हैं (और ऐसे हैं अपने नकली समाजवादी लेबलों के बावजूद दूसरे इंटरनेशनल के सारे प्रतिनिधि, जिनमें मैकडानल्ड और जान लॉन्गे, काउत्स्की तथा फ्रेडरिक एडलर जैसे लोग शामिल हैं), विशिष्टता इस स्वत: स्पष्ट सत्य का विस्मरण है। निम्नपूंजीवादी जनवादियों की विशिष्टता है वर्ग संघर्ष से घृणा, उससे बच निकलने का स्वप्न देखना, तीखे कोनों को चौरस और सामंजस्यपूर्ण, कुंद बनाने का प्रयत्न करना। इसलिए ऐसे जनवादी या तो पूंजीवाद से कम्युनिज्म में संक्रमण की एक पूरी ऐतिहासिक अवधि की आवश्यकता स्वीकार करने से कतराते हैं या फिर दो लड़ रही शक्तियों में से एक के संघर्ष का नेतृत्व करने के बजाय उन दोनों में सामंजस्य लाने की योजनाएं गढ़ना अपना कारोभार मानते हैं।

2

रूस में सर्वहारा अधिनायकत्व को हमारे देश के अत्यधिक पिछड़ेपन तथा टुटपुंजियापन के कारण अग्रगामी देशों की तुलना में कतिपय विशेषताओं में अवश्य ही भिन्न होना चाहिए। परंतु बुनियादी शक्तियां - तथा सामाजिक अर्थव्यवस्था के बुनियादी रूप - रूस में भी वही हैं, जो किसी भी पूंजीवादी देश में हैं, इसलिए इन विशेषताओं का केवल उससे सरोकार हो सकता है, जो सबसे प्रमुख नहीं है।

सामाजिक अर्थव्यवस्था के बुनियादी रूप हैं: पूंजीवाद, छोटे पैमाने का माल-उत्पादन, कम्युनिज्म। बुनियादी शक्तियां हैं: बुर्जुआ वर्ग, निम्नपूंजीपति वर्ग (विशेषतया किसान समुदाय), सर्वहारा वर्ग।

सर्वहारा अधिनायकत्व के युग में रूस की अर्थनीति छोटे पैमाने के माल-उत्पादन के विरुद्ध तथा बचे हुए और इस छोटे पैमाने के माल-उत्पादन के आधार पर पुनर्जन्म ले रहे पूंजीवाद के विरुद्ध कम्युनिस्ट ढंग से एकीकृत - एक विशाल राज्य के पैमाने पर - श्रम के पहले पगों के संघर्ष का प्रतिनिधित्व करती है।

रूस में श्रम उस हद तक कम्युनिस्ट ढंग से एकीकृत है, जिस हद तक, पहली चीज, उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व का खात्मा कर दिया गया है और, दूसरी चीज, सर्वहारा राज्य-सत्ता राजकीय भूमि पर तथा राजकीय उद्यमों में राष्ट्रीय पैमाने पर बड़े पैमाने का उत्पादन संगठित कर रही है, अर्थव्यवस्था की विभिन्न शाखाओं तथा उद्यमों के बीच श्रम-शक्ति का वितरण कर रही है, राज्य के पास बड़ी मात्रा में उपभोगजन्य उत्पादों का मेहनतकशों के बीच वितरण कर रही है।

हम रूस में कम्युनिज्म के "पहले पगों" के बारे में कहते हैं (जैसा कि यह हमारी पार्टी के मार्च, 1919 में स्वीकृत कार्यक्रम में भी कहा गया है), इसलिए कि ये सब अवस्थाएं हमारे यहां मात्र आंशिक रूप में संपन्न की गयी हैं या अन्य शब्दों में : ये अवस्थाएं संपन्न करने का कार्य मात्र आरंभिक मंजिल में है। हमने तत्काल, एक ही क्रांतिकारी वार में वह सब कुछ किया, जो तत्काल करना संभव था: उदाहरण के लिए, हमने सर्वहारा अधिनायकत्व के पहले ही दिन, 26 अक्तूबर, 1917 (8 नवंबर, 1917) को जमीन पर निजी स्वामित्व का बड़े मालिकों को मुआविजा दिये बगैर खात्मा कर दिया था, जमीन के बड़े मालिकों का संपत्तिहरण कर दिया था। चंद माहों के अंदर कोई मुआविजा दिये बिना ही लगभग सारे बड़े पूंजीपतियों का, कारखानों, मिलों, ज्वायंट स्टाक कंपनियों, बैंकों, रेलों, आदि के मालिकों का संपत्तिहरण कर दिया गया था। उद्योग में बड़े पैमाने के उत्पादन का राजकीय संगठन तथा कारखानों, मिलों, रेलवे लाइनों के "मजदूर नियंत्रण" से "मजदूर प्रबंध" में संक्रमण - यह बुनियादी तौर पर और मुख्य रूप से संपन्न हो चुका है, परन्तु कृषि के संबंध में यह अभी - अभी शुरू हुआ है ('सोवियत फार्म,' राजकीय भूमि पर मजदूरों के राज्य द्वारा संगठित बड़े फार्म)। इस तरह छोटे माल वाली कृषि से कम्युनिस्ट कृषि में संक्रमण के रूप में छोटे भूस्वामियों की सहकारिताओं के नाना रूपों का संगठन अभी-अभी शुरू हुआ है। यही बात निजी व्यापार के स्थान पर उत्पादों के राज्य द्वारा संगठित वितरण के बारे में, यानी शहरों के लिए अनाज तथा गांवों के लिए औद्योगिक उत्पादों के राज्य द्वारा संचय तथा आपूर्ति के बारे में कही जा सकती है। इस प्रश्न पर उपलब्ध आंकड़े नीचे दिये जा रहे हैं।

किसानी खेतीबाड़ी अब भी छोटे पैमाने का माल-उत्पादन बनी हुई है यहां हम पूंजीवाद का अत्यंत व्यापक, अत्यंत गहन, अत्यंत सुदृढ़ मूलवाला आधार पाते हैं। इस आधार पर पूंजीवाद - कम्युनिज्म के विरुद्ध कटुतम संघर्ष करते हुए- बरकरार है और नये सिरे से जन्म ले रहा है। इस संघर्ष के रूप हैं : चोरबाजारी और मुनाफाखोरी बनाम अनाज (और अन्य उत्पादों) का राज्य द्वारा संचय तथा सामान्यतया उत्पादों का राज्य द्वारा वितरण।

3

इन अमूर्त सैद्धान्तिक प्रस्थापनाओं के चित्रण के लिए हम ठोस आंकड़ों का हवाला दे रहे हैं।

खाद्य जन-कमिसारियत के आंकड़ों के अनुसार 1 अगस्त, 1917 से 1 अगस्त, 1918 तक रूस में राज्य द्वारा लगभग 3 करोड़ पूद अनाज का संचय किया गया था। अगले साल लगभग 11 करोड़ पूद का संचय किया गया।

संचय के अगले मुहिम (1919-1920) के पहले तीन माहों में अनाज का संचय 1918 की उसी अवधि (अगस्त-अक्टूबर) के 3 करोड़ 70 लाख पूद के मुकाबले में संभवत: लगभग 4 करोड़ 50 लाख पूद तक पहुंच जायगा।

ये आंकड़े पूंजीवाद पर कम्युनिज्म की विजय के अर्थ में धीरे-धीरे, परन्तु सतत सुधार को स्पष्ट रूप से बताते हैं। यह सुधार ऐसे गृहयुद्ध के कारण उत्पन्न संसार में अश्रुतपूर्व कठिनाइयों के बावजूद हासिल किया जा रहा है, जिसे विश्व की सबसे बलवती शक्तियों की सारी ताकत इस्तेमाल करते हुए रूसी और विदेशी पूंजीपति संगठित कर रहे हैं।

इसलिए समस्त देशों के बुर्जुआ जन तथा उनके खुले और छुपे मददगार (दूसरे इंटरनेशनल के "समाजवादी") चाहे कितना ही झूठ बोलें तथा कीचड़ उछालें, एक बात संदेह के परे बनी रहती है : सर्वहारा अधिनायकत्व की बुनियादी आर्थिक समस्या के दृष्टिकोण से हमारे यहां पूंजीवाद पर कम्युनिज्म की विजय सुनिश्चित है। सारे संसार में बुर्जुआ वर्ग बोल्शेविज्म के विरुद्ध क्रोध से पागल हो रहा है, आग-बबूला हो रहा है, बोल्शेविकों के विरुद्ध सैनिक अभियान, षड्यंत्र, आदि संगठित कर रहा है, क्योंकि वह बहुत अच्छी तरह समझता है कि यदि हमें सैनिक शक्ति से न कुचला, तो सामाजिक अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण में हमारी सफलता अपरिहार्य है। और इस ढंग से हमें कुचलने में उसे सफलता नहीं मिल सकती।

आगे दिये गये संक्षेपीकृत आंकड़ों से यह पता चल जाता है कि हम इतने अल्प समय में, जो हमें मिला, तथा दुनिया में उन अभूतपूर्व कठिनाइयों के बावजूद, जिनके अंतर्गत हमें काम करना पड़ रहा है, किस हद तक पूंजीवाद को पराजित कर चुके हैं। केन्द्रीय सांख्यिकी बोर्ड ने अनाज के उत्पादन तथा वितरण के बारे में अखबारों के लिए आंकड़े अभी-अभी तैयार किये हैं, जो पूरे सोवियत रूस से नहीं, अपितु केवल 26 गुबेर्नियाओं से संबंधित हैं।

ये रहे आंकड़े। (देखें तालिका)

अत: शहरों के लिए लगभग आधा अनाज खाद्य जन-कमिसारियत तथा बाकी आधा मुनाफाखोरों द्वारा मुहैया किया जाता है। 1918 में शहरी मजदूरों के भोजन के सटीक पर्यवेक्षण ने भी ठीक यही अनुपात प्रस्तुत किया। परन्तु राज्य द्वारा मुहैया किये गये अनाज के लिए मजदूर उससे **नौ गुना कम** कीमत चुकाता है, जितना वह चोरबाजारी करनेवालों को चुकाता है। अनाज की मुनाफाखोरी वाली कीमत राज्य द्वारा नियत कीमत से **दस गुना** ज्यादा है। मजदूरों के बजट का सटीक अध्ययन यह बताता है।

4

उद्धृत आंकड़े, यदि उन पर अच्छी तरह विचार किया जाये, ऐसी सटीक सामग्री प्रस्तुत करते हैं, जो रूस की वर्तमान अर्थव्यवस्था की मूलभूत विशेषताओं का चित्रण करती है।

मेहनतकश युग-युगों के उत्पीड़नकारियों और शोषकों, जमींदारों और पूंजीपतियों से स्वतंत्र हो चुके हैं। वास्तविक स्वतंत्रता तथा वास्तविक समानता की दिशा में आगे की ओर उठाये गये इस पग की, ऐसे पग की, जो अपनी विशालता, आकार, द्रुत गति के मामले में विश्व में अभूतपूर्व है, बुर्जुआ वर्ग के पक्षधर (टुटपुंजिया जनवादियों समेत) उपेक्षा करते हैं, जो स्वतंत्रता और समानता की बात संसदीय बुर्जुआ जनवाद के अर्थ में करते हैं और उसे मिथ्या ढंग से आम "जनवाद" या "शुद्ध जनवाद" (काउत्स्की) घोषित करते हैं।

परन्तु मेहनतकश तो ठीक वास्तविक समानता, वास्तविक स्वतंत्रता (जमींदारों और पूंजीपतियों से स्वतंत्रता) को ही स्वीकार करते हैं और इसी वजह से वे इतनी दृढ़ता से सोवियत सत्ता के पक्ष में खड़े हैं।

कृषिप्रधान देश में सर्वहारा अधिनायकत्व से सबसे पहले, सबसे ज्यादा, तत्काल लाभ सामान्यतया किसानों को हुआ। रूस में जमींदारों और पूंजीपतियों के मातहत किसान भूखों मरता था। हमारे इतिहास के दौरान किसान को अपने लिए काम करने की संभावना कभी नहीं मिली: वह पूंजीपतियों को, नगरों तथा विदेशों के लिए सैकड़ों लाख पूद अनाज मुहैय्या करते हुए स्वयं भूखों मरता था। सर्वहारा अधिनायकत्व के अंतर्गत किसान ने **पहली बार** अपने लिए काम किया और **शहरवासियों से बेहतर खाया**। किसान ने पहली बार स्वतंत्रता को अमल में देखा : अपनी रोटी खाने की स्वतंत्रता, भुखमरी से स्वतंत्रता। जमीन के वितरण में, जैसा कि सुविदित है, अधिकतम समानता की स्थापना हुई : अत्यंत अधिसंख्य मामलों में किसान "खानेवालों के हिसाब से" जमीन बांट रहे हैं।

समाजवाद वर्गों का उन्मूलन है।

वर्गों का उन्मूलन कर सकने के लिए, पहली चीज, जमीन्दारों और पूंजीपतियों का तख्ता उलटना जरूरी है। कार्यभार का यह भाग हमने पूर्ण कर डाला है, परन्तु यह तो मात्र एक भाग है, यही नहीं, यह सबसे ज्यादा कठिन भाग **नहीं** है। वर्गों का उन्मूलन कर सकने के लिए, दूसरी चीज मजदूर तथा किसान के बीच अंतर मिटाना, **सबको कामगार** बनाना जरूरी है। यह कार्यभार तत्काल पूरा नहीं हो सकता। यह कार्यभार अतुलनीय रूप से अधिक कठिन है और आवश्यक रूप से बहुत लंबा समय लगेगा। यह कार्यभार एक वर्ग का तख्ता उलटने से नहीं निबटाया जा सकता। उसे तो

सोवियत रूस की 26 गुबेर्नियाएं	आबादी (दस लाख में)	अनाज का उत्पादन (बीज और चारे को छोड़कर) (दस लाख पूद में)	अनाज की डिलीवरी: खाद्य जन कमिसारियत द्वारा (दस लाख पूद में)	अनाज की डिलीवरी: मुनाफाखोरों द्वारा (दस लाख पूद में)	आबादी को सौंपी गयी अनाज की कुल मात्रा (दस लाख पूद में)	प्रति व्यक्ति अनाज की खपत (पूद में)
उत्पादक गुबेर्नियाएं	शहरी 4.4	--	20.9	20.6	41.5	9.5
	देहाती 28.6	625.4	--	--	481.8	16.9
उपभोक्ता गुबेर्नियाएं	शहरी 5.9	--	20.0	20.0	40.0	6.8
	देहाती 13.8	114.0	12.1	27.8	151.4	11.0
कुल (26 गुबेर्नियाएं)	52.7	739.4	53.0	68.4	714.7	13.6

केवल संपूर्ण सामाजिक अर्थव्यवस्था के संगठनात्मक पुनर्निर्माण द्वारा, निजी, बिखरे, छोटे पैमाने के माल-उत्पादन से बड़े पैमाने के सामाजिक उत्पादन में संक्रमण द्वारा ही निबटाया जा सकता है। यह संक्रमण आवश्यक रूप से बहुत लंबा समय लेगा। यह संक्रमण जल्दबाजी भरे और असावधानी भरे प्रशासनिक तथा विधानमूलक पगों से केवल विलंबित और जटिल ही बन सकेगा। इस संक्रमण की गति किसान को केवल ऐसी सहायता देने से तेज की जा सकती है, जो उसे खेतीबाड़ी की सारी तकनीक को विशाल पैमाने पर सुधारने, उसका मूलगामी पुनर्गठन करने की संभावना प्रदान करेगी।

कार्यभार का दूसरा, सबसे ज्यादा कठिन भाग निबटा सकने के लिए बुर्जुआ वर्ग को परास्त करने के उपरान्त सर्वहारा वर्ग को किसान समुदाय के प्रति अपनी नीति आगे प्रस्तुत बुनियादी लाइन पर चलानी चाहिए : सर्वहारा वर्ग को मेहनतकश किसान को किसान मालिक से, किसान कामगार को मोल-तोल करनेवाले किसान से, मेहनत करनेवाले किसान को मुनाफ़ाखोर किसान से अवश्य विभेदित करना चाहिए तथा उनके बीच सीमांकन करना चाहिए।

इस सीमांकन में ही समाजवाद का **पूरा सार** है।

इसमें अचरज की कोई बात नहीं है कि कथनी में समाजवादी तथा करनी में टुटपुंजिया जनवादी (मार्तोव, चेर्नोव, काउत्स्की और उनकी मंडली) समाजवाद के इस सार को नहीं समझते।

यहां लक्षित सीमांकन अत्यंत कठिन है, इसलिए कि वास्तविक जीवन में "किसान" की सारी विशेषताएं एक समष्टि में संलयित हो जाती हैं चाहे उनमें कितनी ही विविधता हो, चाहे उनमें कितना ही विरोधाभास हो। परन्तु यह सब होते हुए भी सीमांकन करना संभव है तथा न केवल संभव है, अपितु वह किसानी अर्थव्यवस्था तथा किसानी जीवन की अवस्थाओं से अपरिहार्य रूप से उत्पन्न होता है। मेहनतकश किसान युग-युगों से जमींदारों, पूंजीपतियों, तिजारतियों, मुनाफाखोरों और सबसे ज्यादा जनवादी बुर्जुआ जनतंत्रों समेत उनके राज्य से उत्पीड़ित होता आया है। मेहनतकश किसान युग-युगों से अपने को इन उत्पीड़कों तथा शोषकों से घृणा और नफरत करने की शिक्षा-दीक्षा देता रहा, और जीवन द्वारा दी गयी यह "शिक्षा-दीक्षा" किसान को पूंजीपति के विरुद्ध, मुनाफाखोर के विरुद्ध, तिजारती के विरुद्ध मजदूर के साथ संघबद्धता की तलाश करने के लिए विवश करती है। परन्तु साथ ही आर्थिक अवस्थाएं, माल-उत्पादन की अवस्थाएं किसान को अपरिहार्य रूप से (सदा तो नहीं, परन्तु अत्यंत अधिसंख्य मामलों में) तिजारती और मुनाफाखोर बना देती हैं।

हमने ऊपर जो आंकड़े दिये हैं, वे मेहनतकश किसान तथा मुनाफाखोर किसान के बीच ज्वलंत अंतर दर्शाते हैं। वह किसान, जिसने शहरों के भूखे मजदूरों को 1917-1919 में राज्य द्वारा नियत कीमतों पर 4 करोड़ पूद अनाज दिया था, उसे राज्य निकायों के हाथों में उनकी उन तमाम त्रुटियों के बावजूद सौंपा था, जिन्हें मजदूरों की सरकार भली भांति अनुभव करती थी, परन्तु जिन्हें समाजवाद में संक्रमण की पहली अवधि में नहीं मिटाया जा सकता था, वह किसान मेहनतकश किसान है, समाजवादी मजदूर का पूर्णाधिकार प्राप्त साथी है, उसका सबसे विश्वसनीय संगी-साथी है, पूंजी के जुवे के विरुद्ध संघर्ष में उसका सगा भाई है। परन्तु वह किसान, जिसने शहरी मजदूर की जरूरत तथा भूख से लाभ उठाते हुए, राज्य को धोखा देते हुए, सर्वत्र धोखाधड़ी, डकैती, जालफरेब को बढ़ाते हुए, उन्हें जन्म देते हुए चोरी से 4 करोड़ पूद अनाज राज्य द्वारा नियत कीमत से दस गुनी ज्यादा कीमत पर बेचा, वह किसान मुनाफाखोर, पूंजीपति का संगी-साथी है, मजदूर का वर्ग शत्रु है, शोषक है। इसलिए कि जिस किसी के पास पूरे राज्य की जमीन से उन औजारों की मदद से, जिनके निर्माण में न केवल किसान का, अपितु मजदूर, आदि का भी श्रम इस या उस रूप में लगा हुआ है, बटोरा गया अतिरिक्त अनाज है, जिस किसी के पास यह अतिरिक्त अनाज है और जो उसमें मुनाफाखोरी करता है, वह भूखे मजदूर का शोषक है।

हमारे संविधान ' में मजदूर और किसान की असमानता, संविधान सभा के विघटन, अतिरिक्त अनाज की जबरन उगाही, आदि की ओर इशारा करते हुए चारों ओर से हमारे ऊपर चिल्ला-चिल्लाकर आरोप लगाये जाते हैं : आप स्वतंत्रता, समानता तथा जनवाद के उल्लंघनकारी हैं। हम उत्तर देते हैं : संसार में कोई ऐसा राज्य नहीं हुआ, जिसने वह वास्तविक असमानता, स्वतंत्रता का वह वास्तविक अभाव मिटाने के लिए इतना कुछ किया हो, जिससे मेहनतकश किसान शताब्दियों से पीड़ित रहा है। परन्तु हम मुनाफाखोर किसान के साथ समानता को कभी स्वीकार नहीं करेंगे, जिस तरह हम शोषक की शोषित से, पेटभरे की भूखेपेट से समानता को, पहले द्वारा दूसरे को लूटने की "स्वतंत्रता" को स्वीकार नहीं करेंगे। और हम उन पढ़े-लिखे लोगों के साथ, जो यह अंतर नहीं समझना चाहते, उसी तरह पेश आयेंगे, जिस तरह हम सफेद गार्डवालों के साथ पेश आते हैं, भले ही ये लोग अपने को जनवादी, समाजवादी, अंतरराष्ट्रीयतावादी, काउत्स्की, चेर्नोव, मार्तोव जैसे नाम दें।

5

समाजवाद वर्गों का उन्मूलन है। सर्वहारा अधिनायकत्व ने वर्गों के इस उन्मूलन के लिए वह सब कुछ कर डाला है, जो वह कर सकता था। परन्तु वर्गों का तत्काल उन्मूलन नहीं किया जा सकता।

सर्वहारा अधिनायकत्व के युग में वर्ग **बचे हुए हैं** और **बचे रहेंगे**। जब वर्ग लुप्त हो जायेंगे, तो अधिनायकत्व अनावश्यक हो जायेगा। वे सर्वहारा अधिनायकत्व के बिना लुप्त नहीं होंगे।

वर्ग बचे हुए हैं, परन्तु **प्रत्येक** का रूप सर्वहारा अधिनायकत्व के युग में बदल गया है; उनका परस्पर संबंध भी बदल गया है। सर्वहारा अधिनायकत्व के अंतर्गत वर्ग संघर्ष लुप्त नहीं होता, अपितु भिन्न रूप ग्रहण मात्र करता है।

पूंजीवाद के अंतर्गत सर्वहारा उत्पीड़ित वर्ग था, उत्पादन के साधनों पर किसी भी स्वामित्व से वंचित वर्ग था, एकमात्र ऐसा वर्ग था, जो प्रत्यक्ष और पूर्ण रूप से बुर्जुआ वर्ग के विरुद्ध था और इसलिए अंत तक क्रान्तिकारी बने रहने में एकमात्र सक्षम वर्ग था। बुर्जुआ वर्ग का तख्ता उलटने तथा राजनीतिक सत्ता पर अधिकार करने के बाद सर्वहारा वर्ग शासक वर्ग बन गया : वह राज्यसत्ता को अपने हाथों में रखता है, वह उत्पादन के समाजीकृत किये गये साधनों का प्रबंध करता है, वह ढुलमुल और मध्यवर्ती तत्वों तथा वर्गों का नेतृत्व करता है, वह शोषकों के प्रतिरोध की बढ़ी हुई सरगर्मी को कुचलता है। ये सब वर्ग संघर्ष के विशिष्ट कार्यभार हैं, ऐसे कार्यभार हैं, जिन्हें सर्वहारा वर्ग ने अपने सामने पहले न तो निर्धारित किया था और न वह ऐसा कर सकता था।

शोषकों, जमींदारों और पूंजीपतियों का वर्ग सर्वहारा अधिनायकत्व के अंतर्गत न तो लुप्त हुआ है और न तत्काल लुप्त हो सकता है। शोषकों को चकनाचूर तो कर दिया गया है, परन्तु उनका उन्मूलन नहीं हुआ है। उनके पास अंतरराष्ट्रीय आधार बचा हुआ है, यह है अंतरराष्ट्रीय पूंजी, जिसकी वे एक शाखा हैं। उनके पास उत्पादन के कुछ साधनों का एक भाग बचा हुआ है, उनके पास धन बचा हुआ है, उनके पास विशाल मात्रा में सामाजिक संबंध

है। ठीक उनकी पराजय के कारण उनके प्रतिरोध की स्फूर्ति सौ गुनी, हजार गुनी बढ़ी है। राजकीय, सैनिक, आर्थिक प्रशासन की "कला" उनका पलड़ा बहुत ज्यादा भारी बनाती है, जिसकी वजह से उनका महत्व आबादी की आम संख्या में उनके हिस्से से अतुलनीय रूप से अधिक है। शोषितों के विजयी हरावल के विरुद्ध, यानि सर्वहारा वर्ग के विरुद्ध शोषकों का, जिनका तख्ता उलटा जा चुका है, वर्ग संघर्ष अपरिमित रूप से अधिक कटु बन गया है। अन्यथा हो भी नहीं सकता, बशर्ते क्रांति की अवधारणा के स्थान पर (जैसा कि दूसरे इंटरनेशनल के सारे सूरमा करते हैं) सुधारवादी भ्रम न रख दिये जायें।

अंत में, सामान्यतया सारे टुटपुंजिया वर्ग की तरह किसान समुदाय सर्वहारा अधिनायकत्व के अंतर्गत तक बीच की, मध्यवर्ती स्थिति अपनाता है : एक ओर, यह मेहनतकशों का काफी उल्लेखनीय (और पिछड़े हुए रूस में विशाल) जनसमुदाय है, जो अपने को जमींदार और पूंजीपति से स्वतंत्र करने के मेहनतकश जनसमुदाय के समान हितों से ऐक्यबद्ध है ; दूसरी ओर, यह पृथक छोटा मालिक, संपत्तिवान, व्यापारी है। ऐसी आर्थिक स्थिति सर्वहारा वर्ग और बुर्जुआ वर्ग के बीच उसके ढुलमुलपन को अनिवार्यत: जन्म देती है। सर्वहारा वर्ग और बुर्जुआ वर्ग के बीच तीक्ष्ण संघर्ष को देखते हुए, समस्त सामाजिक संबंधों के अविश्वसनीय ढंग से बुरी तरह विखंडन को देखते हुए, किसानों और टुटपुंजियों के आम तौर पर पुराने, बंधे-बंधाये ढर्रे, अपरिवर्तन के प्रति अत्यधिक आकर्षण को देखते हुए यह स्वाभाविक है कि हम अनिवार्यत: उनके बीच एक पक्ष से दूसरे पक्ष की ओर पलायन, ढुलमुलपन, मोड़, अनिश्चय, आदि पायेंगे।

इस वर्ग - अथवा इन सामाजिक तत्वों - के संबंध में सर्वहारा का कार्यभार इसमें निहित है कि वह उसका नेतृत्व करे, उस पर प्रभाव जमाने के लिए संघर्ष करे। जो ढुलमुल और डावांडोल है, उन्हें अपने साथ ले चलना - यह है वह कार्य, जो सर्वहारा वर्ग को अवश्य करना होगा।

यदि हम सब बुनियादी शक्तियों या वर्गों तथा सर्वहारा अधिनायकत्व द्वारा उनके रूपांतरित परस्पर संबंधों की एक साथ तुलना करें, तो हम देखते हैं कि सामान्यतया "जनवाद के जरिए" समाजवाद में संक्रमण करने के बारे में प्रचलित, टुटपुंजिया विचार, जो हम दूसरे इंटरनेशनल के सारे प्रतिनिधियों में पाते हैं, सैद्धान्तिक रूप से कितनी असीम बेहूदगी से भरा, कितना मूर्खतापूर्ण है। इस गलती का आधार है बुर्जुआ वर्ग से विरासत में मिला यह पूर्वाग्रह कि "जनवाद" का अंतर्य निरपेक्ष, वर्गेतर होता है। दरअसल जनवाद भी सर्वहारा अधिनायकत्व के अंतर्गत सर्वथा नये दौर में पदार्पण करता है तथा वर्ग संघर्ष भी सभी और प्रत्येक रूप पर हावी होते हुए और ऊंची मंजिल में पहुंचता है।

स्वतंत्रता, समानता, जनवाद के बारे में आम फिकरे असल में माल-उत्पादन के संबंधों के सांचे में ढली अवधारणाओं की बिना सोच-समझे पुनरावृत्ति हैं। ऐसे सामान्य फिकरों के जरिए सर्वहारा अधिनायकत्व के ठोस कार्यभार निबटाने का अर्थ है बुर्जुआ वर्ग की उसूली और सैद्धान्तिक स्थिति को आद्यंत अपनाना। सर्वहारा वर्ग के दृष्टिकोण से प्रश्न केवल इस तरह प्रस्तुत होता है : किस वर्ग द्वारा उत्पीड़न से स्वतंत्रता? किस वर्ग के साथ किस वर्ग की समानता? निजी स्वामित्व की आधारभूमि पर या निजी स्वामित्व के उन्मूलन के लिए संघर्ष के आधार पर जनवाद? आदि।

एंगेल्स ने बहुत पहले 'ड्यूहरिंग मत-खंडन' में यह समझाया था कि समानता की अवधारणा माल-उत्पादन के संबंधों के ढांचे में ढली हुई चीज है, यदि समानता का अर्थ वर्गों का उन्मूलन न समझा जाये, तो वह पूर्वाग्रह में परिणत हो जाती है[2]। समानता की बुर्जुआ-जनवादी अवधारणा तथा समाजवादी अवधारणा में अंतर के बारे में यह मूल सत्य निरंतर भुलाया जाता है। और यदि उसे नहीं भुलाया जाये, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि सर्वहारा वर्ग बुर्जुआ वर्ग का तख्ता उलटकर वर्गों के उन्मूलन की दिशा में सबसे निर्णायक पग उठाता है, और यह कि इस प्रक्रिया के समापन के लिए सर्वहारा को राज्य-सत्ता के कार्ययंत्र का उपयोग करते हुए तथा उलट दिये गये बुर्जुआ वर्ग के संबंध में तथा ढुलमुल टुटपुंजिया वर्ग के संबंध में संघर्ष करने, प्रभाव डालने, दबाव डालने के विभिन्न उपायों को अमल में लाते हुए अपना वर्ग संघर्ष अवश्य जारी रखना चाहिए।[3]

30 अक्टूबर, 1917

7 नवम्बर, 1919 को प्रकाशित।
(खंड 39, पृ. 271-282)

टिप्पणियां

1. रूसी सोवियत संघात्मक समाजवादी जनतंत्र का पहला संविधान 10 जुलाई, 1918 को सोवियतों की पांचवी अखिल रूसी कांग्रेस में अंगीकार किया गया था। यह संविधान गैर मेहनतकश वर्गों तथा समूहों को राजनैतिक अधिकारों से वंचित करता था और मताधिकार के मामले में मजदूरों को अन्य वर्गों के, जिनमें किसान भी शामिल थे, मुकाबले में कुछ विशेष रियायतें देता था, जैसे यह कि यदि शहरी निवासी प्रति 25 हजार मतदाता पीछे एक प्रतिनिधि सोवियतों की अखिल रूसी कांग्रेस में भेज सकते थे, तो देहाती निवासी प्रति 1 लाख 25 हजार मतदाता पीछे हो।

यह प्रावधान सोवियत संघ की सोवियतों की आठवीं कांग्रेस तक बना रहा, जो 1936 में हुई और जिसमें सोवियत संघ का नया संविधान अंगीकार किया गया। इस संविधान में सभी नागरिकों को समान मताधिकार दिये गये।

2. फ्रेडरिक एंगेल्स, 'ड्यूहरिंग मत-खंडन', भाग 1, अध्याय 10 : नैतिकता और कानून। समानता। हिंदी संस्करण, प्रगति प्रकाशन, मास्को 1980, पृ. 173।

3. यह लेख अधूरा ही रह गया था।

यदि जन-बल पर विश्वास है तो हमें निराश होने की आवश्यकता नहीं है। जनता की दुर्दम शक्ति ने फासिज्म की काली घटाओं में, आशा के विद्युत का संचार किया है। वही अमोघ शक्ति हमारे भविष्य की भी गारण्टी है। - राहुल सांकृत्यायन

राजीव हेमकेशव
एस. आर. क्लासेज़
83, हलवासिया मार्केट
हजरतगंज, लखनऊ

जनवादी केन्द्रीयता का सवाल

• माओ त्से-तुङ

जनवादी केन्द्रीयता का सवाल कम्युनिस्ट आन्दोलन का एक अहम सवाल रहा है। खासकर भारत में कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी खेमे में यह सवाल पिछले दिनों नये सिरे से उठा है। अतीत के भटकावों से पूर्ण विच्छेद कर जनदिशा और सही जनवादी केन्द्रीयता पर आधारित सांगठनिक लाइन विकसित करने के उद्देश्य से छिड़ी बहस में माओ त्से-तुङ का यह संक्षिप्त लेख अत्यन्त प्रासंगिक होगा। – सं.

ऐसा लगता है कि हमारे कुछ कामरेड अब भी जनवादी केन्द्रीयता को उस रूप में नहीं समझते जिस रूप में उसे मार्क्स और लेनिन ने प्रस्तुत किया है। इन कामरेडों में से कुछ तो पहले से ही तपे-तपाये क्रान्तिकारी हैं, 1938 के सांचे या किसी अन्य सांचे में ढले हुए – जो भी हो, वे कई दशकों से कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य हैं और अब भी इस प्रश्न को नहीं समझते। वे जनता से डरते हैं, जनता से खुलकर अपनी बात रखने से डरते हैं, जनता की आलोचना से डरते हैं। मार्क्सवादी-लेनिनवादियों के जनता से भय खाने के क्या संभावित कारण हो सकते हैं? जिस तरह ये कामरेड खुद अपनी गलतियों का उल्लेख करने से बचते हैं वैसे ही वे जनता द्वारा अपनी गलतियों की चर्चा किये जाने से डरते हैं। वे जितना ही डरेंगे, उतना ही उन्हें हौव्वा सतायेगा। मेरी राय में किसी को डरना नहीं चाहिए। डरने की क्या बात है? हमारा दृष्टिकोण है, सच्चाई पर चलो और गलतियों को फौरन दुरुस्त कर लो। हमारे काम में क्या सही है और क्या गलत, क्या ठीक है और क्या ठीक नहीं, यह जनता के बीच के अन्तरविरोधों में आता है। जनता के बीच के अन्तरविरोध गाली-गलौज और लात-घूंसों से नहीं हल हो सकते, चाकुओं और बंदूकों से तो कतई नहीं। उनका समाधान केवल बहस-मुबाहसे और तर्कों से, आलोचना और आत्मालोचना से हो सकता है। एक शब्द में, उनका समाधान केवल जनवादी पद्धति से हो सकता है जिसमें जनता को अपनी बात खुलकर कहने का मौका दिया जाये।

पार्टी के भीतर और बाहर पूर्ण जनवाद होना चाहिए, यानी जनवादी केन्द्रीयता का पालन दोनों दायरों में किया जाना चाहिए। समस्याओं को बेलाग-लपेट खुले में लाना चाहिए और लोगों को बोलने का पूरा मौका देना चाहिए, तब भी जब हमें बुरा-भला कहा जाने वाला हो। इस बुरा-भला कहने का अधिकतम दुष्परिणाम यह हो सकता है कि हमें हटा दिया जायेगा और हम अपने मौजूदा काम में नहीं बने रह पायेंगे – हमें निचले संगठनों में पदावनत कर दिया जायेगा या दूसरे इलाके में स्थानान्तरित कर दिया जायेगा। इसमें इतनी असम्भव सी क्या बात है? किसी व्यक्ति को केवल ऊपर ही क्यों जाना चाहिए, नीचे क्यों नहीं? किसी को केवल एक स्थान पर ही क्यों काम करना चाहिए और कहीं और स्थानान्तरण क्यों नहीं होना चाहिए? मेरे विचार से चाहे वे न्यायसंगत हों या नहीं, पर पदावनति और स्थानान्तरण, दोनों के अपने फायदे हैं। वे लोगों की क्रान्तिकारी इच्छाशक्ति को तपाकर मजबूत बनाने में मदद करते हैं और उन्हें कई नई स्थितियों की जांच-पड़ताल एवं अध्ययन करने तथा और अधिक उपयोगी जानकारी हासिल करने का मौका देते हैं। मैंने खुद इसका अनुभव किया और मुझे इससे बहुत फायदा हुआ। अगर आपको मेरी बात का भरोसा न हो तो आप इसे आजमा सकते हैं। स्जूमा चिएन ने कहा है, "जब राजा वेन कैद में था, उसने 'परिवर्तनों की पुस्तक' लिखी; जब कनफ्यूसियस मुश्किलों में थे, उन्होंने 'वसन्त एवं शिशिर आख्यान' लिखा। चू युआन ने देश निकाले के दौरान 'ली साओ' की रचना की। त्सोचिऊ मिङ की आंखें चली गई तो 'कुओ यू' रचा गया। युद्ध शास्त्र पर अपनी पुस्तक लिखने के पहले सुन त्जू अपाहिज बना दिया गया था। लू पु-वेई का तबादला शू क्षेत्र में कर दिया गया था तो विश्व को उसकी रचना 'लू लान' मिली। हान फेई को चिन राज्य में बंदी बना दिया गया था तो उसने अपनी महान कृति के दो अध्याय 'शुई नान' और 'कू फेन' लिख डाले। 'गीतों की पुस्तक' की 300 कविताओं में से ज्यादातर की रचना मनीषियों ने अपनी दबी हुई कल्पनाशीलता को अभिव्यक्ति देने के लिए की थी।" आधुनिक काल में लोगों को इस बात पर संदेह है कि क्या वास्तव में राजा वेन ने 'परिवर्तनों की पुस्तक' लिखी थी या कन्फ्यूशियस ने 'वसंत एवं शिशिर आख्यान' की रचना की थी, और हम इन उदाहरणों को दरकिनार कर इन समस्याओं का समाधान विशेषज्ञों पर छोड़ सकते हैं। लेकिन स्जूमा चिएन इन चीजों को सही मानता था। और यह एक तथ्य है कि राजा वेन गिरफ्तार हुआ था और कन्फ्यूशियस मुश्किलों में थे। त्सोचिऊ मिङ के अंधे होने के अलावा स्जूमा चिएन द्वारा वर्णित सभी घटनाएं प्राचीन काल में लोगों के साथ उनके उच्चाधिकारियों द्वारा ठीक व्यवहार नहीं किये जाने से सम्बन्धित हैं। ऐसे मामले हैं जिनमें हमने भी कुछ कार्यकर्ताओं के साथ अनुचित व्यवहार किया और चाहे यह व्यवहार पूर्णतः अनुचित रहा हो या केवल आंशिक रूप से, पुनर्परीक्षण के बाद प्रत्येक मामले के गुण-दोष के आधार पर उन्हें फिर से बहाल कर दिया जाना चाहिए। लेकिन, आम तौर पर, ऐसा अनुचित व्यवहार – पदावनति या स्थानान्तरण- उनकी क्रान्तिकारी इच्छाशक्ति को मजबूत बनाता है और उन्हें जनता से बहुत सा नया ज्ञान ग्रहण करने के योग्य बनाता है।

यहां मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि मैं अपने कार्यकर्ताओं के साथ उस तरह से अंधाधुंध और अनुचित व्यवहार की वकालत नहीं कर रहा हूं, जिस तरह प्राचीन काल में राजा वेन को गिरफ्तार किया गया था, कनफ्यूशियस को परेशान किया गया था और सुन त्जू के घुटने तोड़ दिये गये थे। मैं इस तरीके की वकालत नहीं कर रहा हूं, मैं इसका विरोधी हूं। मेरे कहने का मतलब यह है कि मानव इतिहास की हर मंजिल में गलत व्यवहार के ऐसे मामले होते रहे हैं। वर्ग समाजों में ऐसे मामले अनगिनत हैं। समाजवादी समाज में भी ऐसी चीजों से पूरी तरह बच पाना संभव नहीं होता। चाहे नेतृत्व सही लाइन पर चल रहा हो, या गलत लाइन पर, ऐसी चीजें अपरिहार्य होती हैं। लेकिन एक फर्क होता है। सही लाइन के तहत, गलत व्यवहार वाले मामलों का पता चलते ही, पुनर्परीक्षण के बाद सम्बन्धित व्यक्तियों को बहाल कर दिया जायेगा और उनसे खेद प्रकट किया जाएगा ताकि वे तनावमुक्त रहें और फिर से सिर उठाकर चल सकें। लेकिन गलत लाइन के तहत यह असम्भव हो जाता है और जनवादी केन्द्रीयता की पद्धति से गलतियों को उपयुक्त समय पर केवल वही ठीक कर सकते हैं जो सही लाइन का प्रतिनिधित्व करते है। जहां तक उनका सवाल है जिन्होंने वाकई गलतियां की है और कामरेडों द्वारा आलोचना तथा उच्चतर स्तर पर समीक्षा के बाद जिनकी पदावनति या स्थानान्तरण हुए हैं पर निस्सन्देह यह पदावनति या स्थानान्तरण उन्हें अपनी गलतियों को सुधारने और नयी जानकारी हासिल करने मे मदद करेगा।

वर्तमान समय में, कुछ कामरेड हैं जो जनसाधारण द्वारा बहस की शुरुआत करने और ऐसे विचार प्रस्तुत करने से बहुत डरते हैं जो नेतृत्वकारी निकायों या नेताओं के विचारों से भिन्न हों। जब भी किसी समस्या पर विचार-विमर्श होता है, वे जनता की पहलकदमी को दबा देते है और उसे खुलकर बोलने का मौका नहीं देते। यह दृष्टिकोण घृणित है। जनवादी केन्द्रीयता हमारी पार्टी के संविधान में और राज्य के संविधान में लिखी हुई है, पर वे इसे लागू नहीं करते। साथियो, हम लोग क्रान्तिकारी हैं। अगर हमने वाकई गलतियां की है, ऐसी गलतियां जो पार्टी के उद्देश्य और जनता के लिए नुकसानदेह हैं तो हमें जनसाधारण और कामरेडों की राय मांगनी चाहिए और आत्मालोचना करनी चाहिए। कभी-कभी ऐसी आत्मालोचना कई बार दुहराई जानी चाहिए। यदि एक बार पर्याप्त नहीं है और लोग संतुष्ट नहीं है, तो इसे दूसरी बार करना चाहिए; यदि अब भी वे संतुष्ट नहीं हैं तो इसे तीसरी बार करना चाहिए; इसे तबतक जारी रहना चाहिए जबतक किसी की कोई आलोचना बाकी न रहे। कुछ प्रांतीय पार्टी कमेटियों ने ऐसा ही किया है। कुछ प्रांतों ने कुछ पहलकदमी दिखाई है और लोगों को खुलकर बोलने का मौका दिया है। जल्दी करने वालों ने 1949 में आत्मालोचना शुरू कर दी थी, देर से शुरू करने वालों ने 1961 में चालू की। होनान, कानसू और चिङहाई जैसे कुछ प्रांतों को आत्मालोचना के लिए मजबूर होना पड़ा। कुछ लोगों का कहना है कि कुछ अन्य प्रांतों में अब जाकर आत्मालोचना शुरू हो रही है। लेकिन इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि वे अपनी पहल पर आत्मालोचना चलाते है या बाध्य होकर, जल्दी शुरू करते है या देर से, यदि वे अपनी गलतियों पर बेबाकी से गौर करते हैं और उन्हें स्वीकारने तथा सुधारने तथा जनता को अपनी आलोचना का मौका देने के लिए इच्छुक हैं तो हमें हमेशा उनका स्वागत करना चाहिए।

आलोचना और आत्मालोचना एक पद्धति है। यह जनता के बीच के अन्तरविरोधों को हल करने की एकमात्र पद्धति है। दूसरी कोई पद्धति नहीं है। लेकिन अगर हम पूर्ण जनवाद नहीं देंगे और सच्ची जनवादी केन्द्रीयता का पालन नहीं करेंगे तो आलोचना-आत्मालोचना की यह पद्धति लागू नहीं की जा सकती।

क्या इस समय हमारे पास पहले ही काफी मुश्किलें नहीं हैं? यदि हम जनता पर भरोसा नहीं करते और जनता तथा कार्यकर्ताओं में उत्साह नही जगाते तो इन मुश्किलों से पार पाना असम्भव है। लेकिन यदि आप जनता और कार्यकर्ताओं को परिस्थिति समझाते नहीं, उनके सामने अपना दिल नहीं खोलते और उन्हें अपनी राय व्यक्त नहीं करने देते, यदि वे अब भी आपसे डरते हैं और बोलने की हिम्मत नहीं करते, तो उनमें उत्साह जगाना असम्भव है। मैंने 1947 में कहा था कि हमें " एक ऐसी राजनीतिक स्थिति" का निर्माण करना चाहिए' जिसमें केन्द्रीयता और जनवाद, अनुशासन और स्वतंत्रता, इच्छाशक्ति की एकता और निजी तनावमुक्तता व जीवंतता दोनों साथ हों।" हमें पार्टी के भीतर और बाहर दोनों में ही ऐसी राजनीतिक स्थिति का निर्माण करना चाहिए। वरना जनता के उत्साह को जगाना असम्भव होगा। हम जनवाद के बिना मुश्किलों पर जीत हासिल नहीं कर सकते। निस्संदेह, केन्द्रीयता के बिना तो ऐसा करना और भी असम्भव है। लेकिन यदि जनवाद नहीं होगा तो केन्द्रीयता भी नहीं हो सकती।

जनवाद के बिना सही केन्द्रीयता नहीं हो सकती क्योंकि जब लोगों के बीच एक-दूसरे से नितान्त भिन्न विचार हों और समझदारी की एकता न हो तो केन्द्रीयता स्थापित नहीं की जा सकती। केन्द्रीयता का आशय क्या है? पहले, सही विचारों का संकेंद्रण होना चाहिए। नीति, योजना, आदेश और कामों की समझदारी की एकता सही विचारों के संकेंद्रण पर आधारित होती है। यह केन्द्रीयता के जरिए एकता होती है। लेकिन सभी सम्बन्धित लोगों यदि समस्याओं के बारे में स्पष्ट नहीं हैं, यदि उनकी राय अभिव्यक्त नहीं हुई है या उनका आक्रोश दबा हुआ है, तो आप केन्द्रीयता के जरिए यह एकता कैसे लाएँगे? जनवाद के बिना अनुभव का सही-सही समाहार असम्भव है। जनवाद के बिना, जनता के बीच से विचारों के आते रहने के बिना, अच्छी लाइनें, सिद्धान्तों, नीतियों या पद्धतियों को सूत्रबद्ध करना असम्भव होता है। जहां तक लाइनों, सिद्धान्तों, नीतियों या पद्धतियों का प्रश्न है, हमारे नेतृत्वकारी निकाय महज एक प्रसंस्करण संयंत्र की भूमिका निभाते है। हर कोई जानता है कि कोई फैक्ट्री कच्चे माल के बिना प्रसंस्करण नहीं कर सकती। वह तब तक अच्छे उत्पादों का उत्पादन नहीं कर सकती जब तक कच्चा माल पर्याप्त मात्रा में और उपयुक्त गुणवत्ता का न हो। यदि जनवाद नहीं है, यदि नीचे क्या कुछ चल रहा है उसके बारे में पूरी जानकारी नहीं है, यदि सभी सम्बन्धित पक्षों की राय की पर्याप्त परीक्षा नहीं की गई है और ऊपर के तथा निचले स्तरों के बीच कोई संवाद नहीं है, और इसके बजाय यदि मामलों का निर्णय केवल उच्चतर स्तर के नेतृत्वकारी निकायों द्वारा एकपक्षीय या अशुद्ध सामग्री के आधार पर किया जाता है, तो ऐसे निर्णयों में मनोगत होने से बचना मुश्किल होगा और समझदारी तथा कामों में एकता लाना तथा जनवादी केन्द्रीयता स्थापित करना असम्भव होगा। क्या हमारी वर्तमान कांग्रेस का मुख्य विषय विकेन्द्रीयतावाद का विरोध तथा केन्द्रीयता एवं एकता को मजबूत बनाना नहीं है? यदि हम जनवाद को पूरी तरह बढ़ावा देने में असफल रहेंगे तो यह केन्द्रीयता, यह एकता सच्ची होगी या छद्म? क्या यह वास्तविक होगी या खोखली? क्या यह सही होगी या गलत? निस्संदेह, यह छद्म, खोखली और गलत होगी।

हमारी केन्द्रीयता जनवाद की नींव पर टिकी केन्द्रीयता है। सर्वहारा केन्द्रीयता व्यापक

जनवादी आधार वाली केन्द्रीयता है। सभी स्तरों पर पार्टी कमेटियां केन्द्रीकृत नेतृत्व लागू करने वाले निकाय हैं। लेकिन पार्टी कमेटी द्वारा नेतृत्व का मतलब सामूहिक नेतृत्व होता है, प्रथम सचिव द्वारा मनमाने ढंग से निर्णय लेना नहीं। पार्टी कमेटियों के भीतर केवल जनवादी केन्द्रीयता का पालन होना चाहिए। प्रथम सचिव और अन्य सचिवों एवं कमेटी सदस्यों के बीच का सम्बन्ध अल्पमत के बहुमत के अधीन रहने का होता है। केन्द्रीय कमेटी की स्थायी कमेटी या पोलितब्यूरो का उदाहरण ले लीजिए। अकसर ऐसा होता है कि जब मैं कुछ कहता हूं, चाहे वही सही हो या गलत, यदि दूसरे उससे सहमत नहीं है तो मुझे उनकी राय माननी पड़ती है क्योंकि वे बहुमत में हैं। मुझे बताया गया है कि इस समय कुछ ऐसी प्रांतीय, प्रीफेक्चर एवं काउंटी कमेटियां है, जहां सारे निर्णय केवल प्रथम सचिव ही लेता है। यह बिल्कुल गलत है। हम इस बात को कैसे सही ठहरा सकते है कि एक आदमी जो कहता है वही चलेगा? मैं यहां रोजमर्रा के कामों की नहीं, महत्वपूर्ण मामलों की चर्चा कर रहा हूं। यदि कोई मामला महत्वपूर्ण है, तो उसपर सामूहिक रूप से विचार-विमर्श होना चाहिए, विभिन्न मत सुने जाने चाहिए और परिस्थिति की जटिलताओं तथा विरोधी मतों का गंभीरतापूर्वक विश्लेषण किया जाना चाहिए। किसी परिस्थिति के विभिन्न पहलुओं को देखते हुए विभिन्न सम्भावनाओं, आकलनों पर विचार किया जाना चाहिए: क्या अच्छा है और क्या बुरा, क्या आसान है और क्या मुश्किल, क्या सम्भव है और क्या असम्भव। इसे यथासम्भव सावधानी तथा पूर्णता से किया जाना चाहिए। इससे हटकर व्यवहार करना एक आदमी की तानाशाही है। ऐसे प्रथम सचिवों को तानाशाह कहा जाना चहिए, जनवादी केंद्रीयता का पालन करनेवाले "स्क्वैड लीडर" नहीं। एक समय की बात है, सियाङ यू नाम का एक राजा था। जिसे पश्चिमी चू का तानाशाह कहा जाता था। वह अपनी राय से भिन्न कोई भी बात सुनने से नफरत करता था। फान च्येङ नाम व्यक्ति ने उसे सलाह दी लेकिन सियाङ यू ने सुनने से इंकार कर दिया। दूसरी ओर, हान राजवंश का संस्थापक ल्यू पाङ था जो अपने से भिन्न विचारों को सुनने के मामले में बेहतर था। एक बार ली यी-चि नाम का बुद्धिजीवी ल्यू पाङ से मिलने गया। उसका परिचय कनफ्यूशियस को मानने वाले विद्वान के रूप में दिया गया। ल्यू पाङ ने कहा कि युद्ध छिड़ा हुआ है और ऐसे में वह विद्वानों से नहीं मिल सकता। ली यी-चि नाराज हो गया और द्वारपाल से बोला, "फिर से अन्दर जाओ और कहो कि मैं विद्वान नहीं, काओ याङ का एक शराबी हूं।" द्वारपाल ने ऐसा ही किया। "ठीक है, उसे अंदर बुला लाओ।" जब ली यी-चि अंदर गया तो ल्यू पाङ अपने पैर धो रहा था लेकिन वह तुरंत उसका स्वागत करने के लिए खड़ा हो गया। ली यी-चि एक विद्वान से मिलने से इंकार करने के लिए ल्यू पाङ से अब भी नाराज था और उसने उसे कसकर फटकार लगाई। उसने कहा," सुनो, तुम विश्वविजेता बनना चाहते हो, या नहीं? फिर तुम एक बुजुर्ग को इस तरह हल्कंपन से क्यों लेते हो? ली यी-चि उस समय 60 वर्ष के ऊपर के थे और ल्यू पाङ कम उम्र था, इसलिए ली ने अपने को "बुजुर्ग" कहा। इस पर ल्यूपाङ ने क्षमा मांग ली और चेन ल्यू काउण्टी पर कब्जा करने की ली यी-चि की योजना स्वीकार कर ली। यह घटना 'ऐतिहासिक अभिलेख' में ली यी-चि और लू चिया की जीवनियों में मिल जाती है। सामन्ती काल में इतिहासकारों ने ल्यू पाङ का वर्णन एक ऐसे नायक के रूप में किया है "जो उदार और खुले दिमाग का था और परामर्श सुनने के लिए तैयार रहता था।" ल्यू पाङ और सियाङ यू के बीच कई वर्षों तक युद्ध चलता रहा। अन्त में ल्यू पाङ जीता और सियाङ यू पराजित हुआ। यह अनायास नहीं था। आज हमारे कुछ प्रथम सचिव सामंती ल्यू पाङ जितने भी खुले दिमाग के नहीं है। बल्कि उनमें सियाङ यू के अंश है। यदि ये कामरेड अपने को नहीं बदलेंगे तो अन्ततः उन्हें उखाड़ फेंका जायेगा। आपने वह ऑपेरा देखा होगा 'तानाशाह की अपनी पत्नी से अंतिम विदाई'।[2] यदि ये कामरेड बदलते नहीं है तो वह दिन जरूर आयेगा जब वे भी "पत्नियों से अंतिम विदा" ले रहे होंगे। (हंसी) मुझे इस मामले को इतना जोर देकर क्यों रखना पड़ रहा है? ऐसा इसलिए क्योंकि मुझे आशा है कि थोड़ा कटाक्षपूर्ण लहजे में बोलकर मैं कुछ कामरेडों को कुरेदकर इस मामले पर गंभीरता से सोचने के लिए विवश कर सकूंगा। सबसे अच्छा होगा कि वे एक-दो रातों को सो न सकें। यदि वे सो सके तो मुझे दुख होगा क्योंकि उन्होंने अभी किसी पीड़ा का अनुभव नहीं किया है।

हमारे कुछ कामरेड अपने से विरोधी मत को सुनना बर्दाश्त नहीं कर सकते और आलोचना तो उनसे बिलकुल सहन नहीं होती। यह बहुत गलत है। इस सम्मेलन के दौरान, एक प्रान्त की ग्रुप मीटिंग बड़े जीवन्त ढंग से शुरू हुई, लेकिन जैसे ही प्रांतीय पार्टी कमेटी का सचिव उसमें शामिल होने गया, खामोशी छा गई और कोई भी एक शब्द नहीं बोला। कामरेड प्रांतीय सचिव, आप वहां जाकर क्यों बैठ गये? आप क्यों नहीं अपने कमरे में ही रहकर चीजों पर सोचते और औरों को खुलकर बोलने देते? चूंकि ऐसा माहौल बना दिया गया है और लोग आपकी उपस्थिति में बोलने की हिम्मत नहीं करते, तो आपको स्वयं को अनुपस्थित कर लेना चाहिए। जो भी गलती करता है उसे स्वयं की आलोचना करनी चाहिए और हमें औरों को बोलने देना चाहिए, औरों को आलोचना करने की छूट देनी चाहिए। पिछले वर्ष 12 जून को चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय कमेटी द्वारा पेकिंग में आयोजित कामकाजी सम्मेलन के अंतिम दिन मैंने खुद अपनी कमियों और गलतियों पर बातचीत की थी। मैंने कामरेडों से कहा कि जो कुछ मैंने कहा है उसे प्रांतों और स्थानीय क्षेत्रों तक पहुंचा दिया जाये। बाद में मुझे पता चला कि बहुत से स्थानीय क्षेत्रों को नहीं बताया गया था। जैसे कि मेरी गलतियां छिपी रह सकती हैं या उन्हें छिपाये रखना चाहिए। कामरेड्स, उन्हें कतई छिपा नहीं रहना चाहिए। केन्द्रीय कमेटी से हुई गलतियों में जो सीधे मुझसे सम्बन्धित हैं, उनके लिए मैं जिम्मेदार हूं और जो सीधे सम्बन्धित नहीं है उनकी जिम्मेदारी में भी अध्यक्ष होने के नाते मेरा हिस्सा है। ऐसा नहीं है कि मैं चाहता हूं कि दूसरे अपनी जिम्मेदारी उतार फेंकें - कुछ अन्य कामरेड भी हैं जो जिम्मेदारी उठाते हैं - लेकिन बुनियादी जिम्मेदारी मेरी है। हमारी प्रांतीय, प्रीफेक्चर और काउण्टी पार्टी कमेटियों से लेकर जिलों, उद्यमों और कम्यूनों तक की पार्टी कमेटियों के सचिवों को प्रथम सचिव होने के नाते काम में कमियों और गलतियों की जिम्मेदारी लेनी चाहिए। जिम्मेदारी से बचना, उसे उठाने से डरना, लोगों को खुलकर बोलने से रोकना, मानो आप कोई बाघ हों जिसका पिछवाड़ा छूने की कोई हिम्मत नहीं करता - ऐसा दृष्टिकोण अपनाने वाला एक-एक व्यक्ति असफल हो जायेगा। लोग देर-सबेर बोल ही पड़ेंगे। आप सोचते हैं कि लोग आप जैसे बाघों का पिछवाड़ा छूने की हिम्मत नहीं करेंगे? वे जरूर करेंगे, देख लेना!

जब तक हम लोक जनवाद और अन्तःपार्टी जनवाद को पूरी तरह बढ़ावा नहीं देते और जब तक हम सर्वहारा जनवाद को पूरी तरह लागू नहीं करेंगे, तब तक चीन में सर्वहारा केन्द्रीयता स्थापित होना असम्भव है। उच्च कोटि के जनवाद के बिना उच्च कोटि की केन्द्रीयता होना असम्भव है और उच्च

कोटि की केन्द्रीयता के बिना समाजवादी अर्थव्यवस्था स्थापित करना असम्भव है। और यदि हम एक समाजवादी अर्थव्यवस्था स्थापित करने में असफल रहे तो हमारे देश का क्या होगा? यह एक संशोधनवादी राज्य, बल्कि एक बुर्जुआ राज्य में बदल जायेगा और सर्वहारा की तानाशाही बुर्जुआ वर्ग की तानाशाही में, एक प्रतिक्रियावादी, फासिस्ट तानाशाही में बदल जायेगी। यह एक ऐसा प्रश्न है जिसपर हमारी सतर्कता बनी रहनी चाहिए और मुझे आशा है कि हमारे कामरेड इस पर अच्छी तरह विचार करेंगे।

जनवादी केन्द्रीयता के बिना सर्वहारा की तानाशाही को सुदृढ़ नहीं किया जा सकता। जनता के बीच जनवाद लागू करना और जनता के दुश्मनों पर तानाशाही लागू करना - इन दो पहलुओं को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। जब ये दोनों संयुक्त होते हैं तो सर्वहारा अधिनायकत्व सामने आता है जिसे जनता का जनवादी अधिनायकत्व भी कहा जा सकता है। हमारा नारा है, "सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में और मजदूर-किसान संश्रय पर आधारित जनता का जनवादी अधिनायकत्व"। सर्वहारा वर्ग अपना नेतृत्व कैसे लागू करता है? वह कम्युनिस्ट पार्टी के माध्यम से नेतृत्व करता है। कम्युनिस्ट पार्टी सर्वहारा वर्ग का हिरावल दस्ता है। सर्वहारा वर्ग समाजवादी क्रान्ति और समाजवादी निर्माण के पक्षधर, समर्थक और इसमें शामिल होने वाले सभी वर्गों और तबकों के साथ एकता करता है और प्रतिक्रियावादी वर्गों या यूं कहें कि उनके अवशेषों पर तानाशाही लागू करता है। हमारे देश में, जहां मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण की व्यवस्था नष्ट की जा चुकी है और भूस्वामी वर्ग तथा पूंजीपति वर्ग का आर्थिक आधार समाप्त कर दिया गया है, प्रतिक्रियावादी वर्ग पहले जैसे ताकतवर और खतरनाक नहीं रह गये हैं। उदाहरण के लिए, वे 1947 की तरह विकट नहीं रह गये हैं जब लोक गणतंत्र की स्थापना हुई थी, और न ही 1947 जैसे रह गये हैं जब बुर्जुआ दक्षिणपंथियों ने हमपर उन्मत्त आक्रमण किया था। इसलिए हम उन्हें प्रतिक्रियावादी वर्गों के अवशेष कह रहे हैं। लेकिन हमें इन अवशेषों को कम करके नहीं आंकना चाहिए। हमें उनके विरुद्ध अपना संघर्ष जारी रखना चाहिए। उखाड़ फेंके गये प्रतिक्रियावादी वर्ग अब भी वापस सत्ता में आने के मौके की ताक में हैं। और समाजवादी समाज में नये बुर्जुआ तत्व उभरते रहते हैं। समाजवाद की पूरी मंजिल के दौरान वर्गों और वर्ग संघर्ष का अस्तित्व बना रहता है। यह संघर्ष लम्बा और जटिल होता है और कभी-कभी बेहद तीखा हो जाता है। हमारे अधिनायकत्व के उपकरणों को कमजोर करने के बजाय और मजबूत बनाया जाना चाहिए। हमारी जन सुरक्षा व्यवस्था सही लाइन पर चलने वाले कामरेडों के हाथों में है। लेकिन यह संभव है कुछ स्थानों पर सुरक्षा विभाग गड़बड़ लोगों के हाथों में हो। और जनसुरक्षा का काम कर रहे कुछ ऐसे भी कामरेड हैं जो जनता पर या पार्टी पर भरोसा नहीं करते। प्रति क्रान्तिकारियों को ढूंढ़ निकालने में वे पार्टी कर्मियों के नेतृत्व में जनता के माध्यम से काम करने की नीति नहीं अपनाते बल्कि केवल गुप्त काम, या तथाकथित पेशेवर काम पर भरोसा करते हैं। पेशेवर काम जरूरी है, प्रतक्रान्तिकारियों से निपटने के लिए खुफिया जांच और पूछताछ जरूरी है। लेकिन सबसे जरूरी चीज है पार्टी कमेटी के नेतृत्व में जनदिशा का पालन करना। समग्रता में प्रतिक्रियावादी वर्ग पर तानाशाही लागू करने में जनता और पार्टी पर भरोसा करना बेहद जरूरी है। प्रतिक्रियावादी वर्गों पर तानाशाही का मतलब प्रतिक्रियावादी वर्ग के सभी तत्वों को शारीरिक रूप से खत्म कर देना नहीं होता। इसका उद्देश्य होता है उन्हें नये सांचे में ढालना, उचित तरीके से उन्हें बदलना और नये इंसान बनाना। जनता के लिए व्यापक जनवाद के बिना सर्वहारा की तानाशाही को सुदृढ़ करना या राजनीतिक सत्ता को स्थायी बनाना असम्भव है। जनवाद के बिना, जनता को जगाये बिना और जनता की देखरेख के बिना प्रतिक्रियावादियों और गड़बड़ तत्वों पर प्रभावी तानाशाही लागू करना या उन्हें प्रभावी ढंग से बदलना असम्भव है। वह गड़बड़ी पैदा करते रहेंगे और दुबारा सत्ता में लौट भी सकते हैं। हमें इस प्रश्न पर सतर्कता बरतनी ही होगी और मुझे आशा है कि सभी कामरेड इस पर अच्छी तरह सोचेंगे।

टिप्पणियां

1. स्जूमा चिएन (145-90 ई.पू.) चीन का पहला महान इतिहासकार था जिसने शिह-चि (ऐतिहासिक अभिलेख) में चीन के आरम्भ काल से उस समय तक के इतिहास का वर्णन किया था। उद्धृत पंक्तियां उस ग्रंथ के परिशिष्ट के रूप में लिखी उसकी आत्मकथा से ली गई है।

2. सियाङ यू की अंतिम हार के पहले युद्ध भूमि में जाते हुए अपनी प्रिय रानी यू से विदा लेने के प्रसंग पर आधारित पेकिङ आपेरा। यह प्रसंग शिह-चि में वर्णित है।

(चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय कमेटी द्वारा आयोजित विस्तारित कामकाजी सम्मेलन में 30 जनवरी, 1962 को दिये गये माओ त्से-तुङ के भाषण का अंश)

अनुवाद : **सत्यम वर्मा**

"गड़बड़ी करना, असफल होना, फिर गड़बड़ी करना, फिर असफल होना.... जबतक सर्वनाश न हो जाये; यह साम्राज्यवादियों और दुनिया के तमाम प्रतिक्रियावादियों द्वारा जनता के कार्य से निपटते समय अपनाया जाने वाला तर्क है, तथा वे इस तर्क के खिलाफ हरगिज नहीं जायेंगे। यह एक मार्क्सवादी नियम है। जब हम यह कहते हैं कि "साम्राज्यवाद बहुत क्रूर है" तो इसका मतलब यह होता है कि उसकी प्रकृति कभी बदल नहीं सकती, तथा साम्राज्यवादी अपने सर्वनाश से पहले न तो कभी अपने हाथ से कसाई का छुरा ही छोड़ेंगे और न भगवान बुद्ध ही बनेंगे।

संघर्ष करना, असफल होना, फिर संघर्ष करना, फिर असफल होना, फिर संघर्ष करना... जबतक विजय प्राप्त न हो जाये; यह जनता का तर्क है, तथा वह भी इस तर्क के खिलाफ हरगिज नहीं जायेगी। यह दूसरा मार्क्सवादी नियम है। रूसी जनता की क्रान्ति ने इसी नियम का अनुसरण किया, और चीनी जनता की क्रान्ति ने भी इसी नियम का अनुसरण किया है।" — **माओ त्से-तुङ**

शिखर पर रुदन :

आत्म-विश्लेषण और आत्म-आलोचन से आत्म-भर्त्सना तक पश्चिम की विचारयात्रा

● सत्यव्रत

प्रगति और विकास की सम्भावनाओं से भरपूर ऊर्जस्वी व्यक्तित्व सपने देखता है, जीवन और समाज को और स्वयं अपने क्रियाकलापों को समझने के लिए वस्तुपरक होकर उनमें कारण-कार्य सम्बन्धों (कॉजेलिटी) की तलाश करता है, कल्पनाएं करता है, योजनाएं बनाता है। विकास करता हुआ, संघर्ष करता हुआ, संघर्षों के बीच जीता हुआ व्यक्तित्व निरन्तर विगत का समाहार करता है, निर्मम आत्म-विश्लेषण करता है। जीवन-समर में प्रारम्भिक विजयों के बाद भी, अपनी कल्पनाओं-योजनाओं को निर्णायक रूप से साकार रूप दे लेने के बाद भी, जब तक यौवन रहता है; जब तक वार्धक्य की ढलान नहीं शुरू हो जाती; सम्भावनाएं जब तक निश्शेष नहीं हो जातीं; उम्मीदें जब तक मर नहीं जातीं; जब तक किसी भी व्यक्तित्व में आत्मालोचन की एक स्वतः चालित आन्तरिक गति होती है जो धीरे-धीरे मन्द पड़ती जाती है, जिसकी वस्तुपरकता क्रमशः घटती जाती है, अवसाद एवं निराशा के शुरुआती आभास झटकों के समान कौंधने लगते हैं और उनकी आवृत्ति बढ़ती चली जाती है।

हताश-निराश व्यक्तित्व इच्छा-शक्तिहीन होकर अपने पापों को स्वीकारता है, लम्बी सांसें भरता है; मृत्युभयग्रस्त होकर रोता है, आत्मभर्त्सना करता है और पूर्ण इच्छाशक्तिहीन अपने को बदल डालने की झूठी कसमें खाता है। और ठीक ऐसा करते समय वह अपनी पतित, निकृष्ट हरकतों से बाज भी नहीं आता। जैसे कि एक बूढ़ा सूदखोर यमराज और नर्क के भय से ज्यादा से ज्यादा धरम-करम के काम करता है, पर ठीक उसी समय वह सूद वसूलने और यहां तक कि इसके लिए किसी गरीब को तबाह-बर्बाद कर देने से भी बाज नहीं आता। यही नहीं, वह अपनी आत्मा के भय को समाप्त करने के लिए किये जाने वाले अपने धार्मिक कार्यों और प्रायश्चितों का भी एक हथकण्डे और भ्रमोत्पादक कारवाई के रूप में इस्तेमाल करता है।

यही बात, ऐसा लगता है कि समाज विशेष, इतिहास-विकास की मंजिल विशेष या वर्ग-विशेष के लिए भी सही है, जैसे कि पूंजीवाद के लिए, पूंजीपति वर्ग के लिए और दुनिया भर के मेहनतकशों को लूटकर समृद्धि के शिखर पर आसीन पश्चिमी समाज के लिए भी सही है जो विश्व पूंजीवादी तंत्र के भूमण्डलीकृत गांव का केन्द्र है, जहां साम्राज्यवाद के चौधरियों के शीशमहल हैं। ...समृद्धि के शिखर पर पहुंचने के बाद केवल ढलान पर लुढ़कने के दुःस्वप्न ही आ सकते हैं।

पूंजीवादी क्रान्तियों की पूर्ववेला में ज्ञान-प्रसारण काल के दार्शनिकों द्वारा इतिहास-विकास के वस्तुपरक नियमों की खोज से लेकर हेगेल के क्लासिकीय जर्मन प्रत्ययवादी इतिहास दृष्टि एवं उसके प्रत्यक्षवादी (पॉजिटिविस्ट) प्रतिषेध तक, वहां से स्पेंग्लर के निराशावादी एवं टॉयनबी के नवधर्मशास्त्रीय पलायनवादी समाधान तक और फिर उत्तर औद्योगिक समाज की अवधारणा के डब्ल्यू. रोस्टाव एवं रेमो आरों प्रभृति प्रवर्तकों और माइकल मान जैसे इतिहासकारों के घनीभूत निराशा, चिन्ता एवं निरुपायता भरे विचारों तक तथा सबसे अंत में शीतयुद्धोत्तर काल के वर्तमान दौर में फ्रांसिस फुकोयामा के 'इतिहास के अन्त' के दर्शन तक की, 'विज्ञान के अंत' और 'विचारधारा के अन्त' के नारों के दौर तक की, तरह-तरह के उत्तर आधुनिकतावादी, उत्तर संरचनावादी, उत्तर मार्क्सवादी, नवरहस्यवादी विचारों तक की यात्रा की कहानी कुछ ऐसी ही है।... स्वप्नों, कल्पनाओं, आत्मदर्प भरे युद्धघोषों, विजय के विश्वास की घोषणाओं, आत्मविश्लेषणों, आत्मालोचनों से लेकर आत्मभर्त्सना, पाप-स्वीकार, मृत्युभयग्रस्त रुदन और विचारहीनता तक की कहानी।

क्या इस पूरी कहानी का ब्योरा खुद ही यह नहीं बताता कि समाजवाद की तात्कालिक पराजय उसकी मृत्यु नहीं बल्कि सर्वहारा क्रान्तियों के पहले संस्करण की समाप्ति है और इसके नये संस्करण अवश्यम्भावी हैं क्योंकि पूंजीवाद की मृत्यु सुनिश्चित है, जैसाकि उसके आर्थिक-समाजिक वैश्विक तंत्र का ढांचागत संकट भी बता रहा है और उसका आत्मिक-सांस्कृतिक दिवालियापन भी। क्या पूंजीवाद की वर्तमान आत्मिक रिक्ति और सन्निपातिक क्रन्दन उसकी भौतिक ऊर्जा के निश्शेष हो जाने, उसके अनुर्वर हो जाने, इतिहास को आगे ले जाने की क्षमता पूर्णत: खो बैठने के ही द्योतक नहीं हैं?

पूंजीवादी क्रान्तियों की पूर्ववेला और प्रत्यूषवेला में, इतालवी दार्शनिक विको ने और फिर ज्ञान-प्रसारणकाल के दार्शनिकों वोल्तेयर, हेर्डर, कोंदोर्से, दिदेरो और मोंतेस्क्यू ने इतिहास-निर्माण की शक्ति को मनुष्य के हाथ में संकेन्द्रित देखा। विको का कहना था कि इतिहास और उसके विकास की गति मनुष्य के लिए ज्ञेय है क्योंकि वही उसका कर्ता है। जर्मन विचारक हर्डर की सोच भी कुछ ऐसी ही थी। फ्रांसीसी ज्ञान-प्रसारकों ने इतिहास की धर्मशास्त्रीय नियतिवादी अवधारणा (जिसकी शुरुआत ऑगस्टिन से हुई थी) को नकारते हुए इतिहास-दर्शन में कारण-कार्य सम्बन्धों (कॉजेलिटी) के विचार का समावेश किया और प्रगति के सिद्धान्त का विशदीकरण करते हुए बताया कि स्वर्णिम दिनों की तलाश अतीत में नहीं बल्कि भविष्य में की जानी चाहिए। उन्होंने ऐतिहासिक प्रक्रिया की एकता का विचार प्रकट किया तथा मनुष्य पर भौगोलिक तथा सामाजिक पर्यावरण के प्रभाव का विचार प्रतिपादित किया।

दिदेरो को छोड़ दें, तो ज्ञान-प्रसारण काल के अधिकांश अन्य दार्शनिक समाज के विकास में चेतना की निर्णायक भूमिका विषयक प्रत्ययवादी अवधारणा को मानते थे। विकास की आर्थिक परिस्थितियों के निर्णायक महत्व को नहीं समझने के कारण वे समाज के वस्तुगत नियमों को नहीं उद्घाटित कर सके, पर पुरोहिती एवं सामन्ती विचारधारा, चर्च, धार्मिक जड़सूत्रों और चिन्तन की स्कॉलेस्टिक पद्धतियों के विरुद्ध निर्णायक संघर्ष चलाकर उन्होंने बुर्जुआ जनवादी क्रान्तियों का विचारधारात्मक आधार तैयार किया तथा भावी बुर्जुआ जनवादी समाज का एक आदर्शकृत रूप अपने चिन्तन में प्रक्षेपित किया। प्रगतिशील बुर्जुआ वर्ग की विचारधारा की दूसरी धारा यांत्रिक भौतिकवाद के रूप में यूरोप में सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी में (**बेकन, गैलीलियो, हॉब्स, लॉक, स्पिनोजा** आदि) नवजात पूंजीवाद के आधार पर और उसके द्वारा उत्पादन, तकनीक और ज्ञान के संवर्द्धन के आधार पर विकसित हुई जिसने मध्ययुगीन स्कॉलास्टिकवाद और चर्च के विरुद्ध संघर्ष चलाते हुए इतिहास-विकास की गति के सुनिश्चित नियमों की अवधारणा का आधार तैयार किया जिसे अठारहवीं शताब्दी में **दिदेरो, लामेत्री, हेल्वेतियस** और **होलबाख** ने आगे विकसित किया। दिदेरो के भौतिकवाद में द्वंद्ववाद के तत्व काफी हद तक मौजूद हैं।

संक्षेप में यह कि ज्ञान प्रसारण काल ऊर्जस्वी स्वप्नदर्शिता, कल्पनाशीलता, तर्कणा, सक्रियता और संघर्षधर्मिता का युग था जब युवा पूंजीवाद सामन्तवाद को इतिहास के कूड़ेदान में धकेल देने के लिए आतुर था। उसके पास सपने थे, योजनाएं थीं, उन्हें लागू करने की सक्रिय-सकारात्मक दृष्टि और शक्ति थी। उसके अन्दर इतिहास के विश्लेषण और समाहार का विवेक और स्वयं अपने क्रियाकलापों के वस्तुपरक विश्लेषण का साहस था। इस समय में बुर्जुआ वर्ग का इतिहास दर्शन प्रत्ययवादी और यांत्रिक भौतिकवादी विश्व-दृष्टिकोण के बावजूद कारण-कार्य सम्बन्धों, नियम संगति और प्रगति की संकल्पनाओं को स्वीकार करता है।

• **पूं**जीवादी इतिहास-दर्शन की ऊर्ध्वमुखी विकास-यात्रा का चरम शिखर **हेगेल** का चिन्तन है। वस्तुगत द्वंद्ववादी प्रत्ययवादी और जर्मन क्लासिकीय दर्शन के सर्वोच्च प्रतिनिधि हेगेल के दार्शनिक चिन्तन में जर्मन बुर्जुआ क्रान्ति की विचारधारात्मक तैयारी और उसके दर्शन की प्रगतिशील एवं क्रान्तिकारी प्रवृत्तियां अभिव्यक्त हुईं। दूसरी ओर यह भी सही है कि हेगेल की विचार-सारणि का अनुदार एवं प्रतिक्रियावादी पहलू जर्मन बुर्जुआ वर्ग की असंगति, कायरता और समझौतापरस्ती का प्रतिफलन था। हेगेल ने मनुष्य के वस्तुगत क्रियाकलापों के महत्वपूर्ण पक्षों को - यद्यपि प्रत्ययवादी ढंग से - आत्मसात किया और विचार, संप्रत्यय या आत्मा की अभिव्यक्ति के रूप में वास्तविक जगत का अवबोध करने के बावजूद इतिहास विकास की द्वंद्वात्मक नियमसंगति को समझा और सांगोपांग निरूपित किया।

इतिहास और जीवन के बारे में बुर्जुआ वर्ग की सकारात्मक दृष्टि के शिखर पुरुष हेगेल हैं जो इतिहास के उस दौर में पैदा हुए थे जब बुर्जुआ क्रान्तियों का सिलसिला अभी जारी था। और यूरोप में सामन्तवाद का पराभव अपने अन्तिम चरण में था। पश्चिमी समाज के तत्कालीन चिन्तन में तब वस्तुपरक आत्मविश्लेषण और आत्मआलोचन तथा दर्शन की गहराई तो दिखाई देती है लेकिन ज्ञान प्रसारण काल के दार्शनिकों की ऊर्जस्विता, कल्पनाशीलता और स्वप्नदर्शिता वहां नहीं मिलती। बल्कि कहीं-कहीं कायरता है और कूपमण्डूकता भी। फिर भी, हेगेल ने फ्रांसीसी ज्ञान प्रसारकों और भौतिकवादियों के विचारों को आगे विकसित करके मानवता के समक्ष इतिहास निर्माण का स्पष्ट एजेण्डा प्रस्तुत किया।

सामाजिक संविदा के सिद्धान्त ने बताया था कि सम्बद्ध युग की जनता की सामाजिक चेतना इतिहास की दिशा निर्धारक एवं निर्मात्री शक्ति होती है। हेगेल ने लक्षित किया कि इतिहास की दिशा निर्धारक एवं निर्मात्री शक्ति मनुष्य के संज्ञानात्मक (कॉग्निटिव) एवं सृजनात्मक क्रियाकलाप होते हैं जो "निरपेक्ष प्रत्यय" (एब्सोल्यूट आइडिया) या "विश्व-बुद्धि" के रूप में प्रकट होते हैं। आगे चलकर, उन्नीसवीं सदी के मध्य में, जब इतिहास निर्माण के कार्यभार को पूंजीपति वर्ग से छीनकर अपने हाथों में ले लेने वाले सर्वहारा वर्ग ने, जून 1848 में पेरिस-विद्रोह से नये विश्व ऐतिहासिक महासमर की दुन्दुभि बजाई, तो उसी दौरान उसकी विचारधारा, दर्शन और इतिहास दृष्टि के सर्जक मार्क्स ने **अज्ञेयवाद** (एग्नॉस्टिसिज़्म, जो अपने क्लासिकीय रूप में **ह्यूम** और **काण्ट** के दर्शन में निरूपित हुआ था) के विरुद्ध संघर्ष, इतिहासपरक दृष्टिकोण, मानव विवेक की शक्तियों में विश्वास और वास्तविक जगत और सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक क्रियाकलापों को शासित करने वाली महत्वपूर्ण नियम संगतियों के सम्बन्धों का पता लगाने वाली तार्किक प्रणाली के आविष्कार के नाते, दर्शन एवं विचारों के इतिहास में हेगेल का बहुत ऊंचा मूल्यांकन किया। इतिहास के प्रति हेगेल का सकारात्मक-सर्जनात्मक दृष्टिकोण, आत्म-विश्लेषण की वस्तुपरकता, अपने सामने उपस्थित पश्चिमी समाज का, युवा, शक्तिमान पूंजीवाद का दृष्टिकोण था जो "पीयर्स को आदमी बनाने" के काम (फ्रांसीसी क्रांति का नारा - अब से पीयर्स को, यानी सामन्तों को आदमी बना दिया जाता है) को अंजाम दे रहा था। यह सही है कि वह उपनिवेशों को लूटकर अपनी उत्पादक शक्तियों को विकसित कर रहा था, पर वस्तुगत तौर पर वह इतिहास को आगे गति दे रहा था।

18वीं सदी के ज्ञान प्रसारकों के प्रत्ययवाद

का उत्कर्ष यदि हेगेल के चिन्तन में निहित था तो उन्हीं की समकालीन दूसरी धारा - दिदेरो, होलबाख, हेल्वेतियस आदि के भौतिकवादी चिन्तन का शिखर **फायरबाख** का **''नृवैज्ञानिक'' भौतिकवाद** था। फायरबाख ने इतिहास एवं मानवीय सारतत्व के बारे में हेगेल की प्रत्ययवादी समझ की आलोचना की और इस आलोचना ने हेगेलीय दर्शन में तर्कबुद्धिसंगत अन्तर्वस्तु के उपयोग के द्वार खोल दिये, परन्तु स्वयं वे हेगेल की द्वंद्ववादी पद्धति की सार्वभौमिकता के योगदान को नहीं समझने के कारण अपनी आधिभौतिकता से मुक्त नहीं हो सके, उनका भौतिकवाद सुसंगत नहीं हो सका और इतिहास एवं सामाजिक परिघटनाओं के बारे में उनकी समझ प्रत्ययवादी ही बनी रही। बावजूद इसके, इतिहास के विकास और भविष्य के बारे में उनका दृष्टिकोण आशावादी, तर्कपरक और वस्तुपरक था। उनकी वाणी भी युवा पश्चिम की ऊर्जस्वी वाणी थी जिसमें सर्जनात्मकता का आवेग खलबला रहा था।

यही बात पुनःस्थापन काल (उन्नीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक) के **त्येर, मिन्ये** और **गिजो** जैसे फ्रांसीसी बुर्जुआ इतिहासकारों के साथ भी लागू होती है जो फ्रांसीसी क्रांति के मानस पुत्र और **सेंट साइमन, बाब्येफ** आदि के विचारों से प्रभावित थे और जिन्होंने अठारहवीं सदी के फ्रांसीसी भौतिकवादियों से आगे जाकर बुर्जुआ समाज की स्थापना तक सामन्तवाद के इतिहास को वर्गसंघर्ष का इतिहास बताया और इसकी व्याख्या अभिजात तंत्र के विरुद्ध बुर्जुआ वर्ग के नेतृत्व में ''तीसरी श्रेणी'' के संघर्ष के रूप में थी। ये इतिहासकार वर्ग संघर्ष के भौतिक आर्थिक आधार की बुनियाद को नहीं समझ सके, इतिहास की गति एवं सामाजिक अन्तर्क्रियाओं की द्वंद्वात्मकता से अपरिचित रहे और वर्ग संघर्ष को इन्होंने उसी हद तक स्वाभाविक और प्रगतिशील माना जिस हद तक इसे सामन्तवाद के विरुद्ध बुर्जुआ वर्ग की विजय के रूप में चलाया जाना था। इन्होंने सर्वहारा वर्ग के वर्ग संघर्ष को नकारते हुए पूंजीवाद की शाश्वतता में विश्वास जताया, फिर भी युगीन संदर्भों में इनकी भूमिका क्रान्तिकारी थी।

इस युग की सर्जनात्मकता, आशावाद, क्रांतिकारी यथार्थवादी दृष्टि और वस्तुपरकता का एक प्रचण्ड प्रस्फोट रूस और पूर्वी यूरोप के अन्य देशों के क्रांतिकारी जनवादियों - **बेलिन्स्की, हर्ज़ेन, चेर्नीशेव्स्की, दोब्रोल्यूबोव, मर्कोविच, बोतेव** आदि के भौतिकवादी चिन्तन के रूप में सामने आया। पर ये देश पश्चिम में हो रहे पूंजीवादी विकास की परिधि पर थे जहां क्रान्तियों की गति विलम्बित एवं शिथिल थी। यहां हम पश्चिमी समाज की विचारयात्रा की चर्चा कर रहे हैं, अतः इनकी चर्चा कभी अलग से।

> पूंजीवाद के असमाधेय बुनियादी अन्तरविरोध के समाधान के लिए इतिहास की व्यग्रता बढ़ती जा रही है और पूंजीवाद का राजनीतिक-बौद्धिक-विचारधारात्मक संकट अपने उग्रतम रूपों में सामने आता जा रहा है। वैभव के शिखर पर आसीन पश्चिमी समाज की प्रभुत्वशील विचारधारा एवं संस्कृति की आत्मिक रिक्तता एवं रुग्णता इसी का द्योतक है।

यह स्पष्ट कर देना यहां शायद जरूरी है कि जब हम यहां पश्चिमी समाज की विचारयात्रा की बात कर रहे हैं तो उस पूरे समाज की आन्तरिक संरचना या स्वरूप को एकाश्मी मानकर नहीं। हर वर्ग समाज की तरह पश्चिम के वर्ग-विभाजित समाज में, हम पूंजीवाद के पूरे इतिहास पर विहंगम दृष्टि डालते हुए वहां के शासक वर्ग - यानी बुर्जुआ वर्ग की विचारयात्रा की बात कर रहे हैं क्योंकि हर समाज में शासक वर्ग की विचारधारा और संस्कृति ही निर्णायक और प्रभुत्वशील होती है। हमारा उद्देश्य यह देखना है कि पतनोन्मुख सामन्तवाद के विरुद्ध आजादी की मशाल उठाकर संघर्ष करने वाले पूंजीवाद का ऊर्जस्वी, आवेगमय आशावादी चिन्तन आज साम्राज्यवाद के मौजूदा चरण तक पहुंचते-पहुंचते किस प्रकार रुग्ण, निराश अवसादपूर्ण, पापबोधपूर्ण, मृत्युभयग्रस्त और पलायनवादी चिन्तन के आखिरी सीमान्त के निकट खड़ा है।

आज के भूमण्डलीकृत विश्व पूंजीवादी तंत्र के असाध्य ढांचागत संकट, साम्राज्यवादियों के कलह-विग्रह का इस दायरे के भीतर कोई समाधान नहीं है और निरंतर संचय से लगे पूंजी के अम्बार के दबाव को हल्का करने की संभावनाएं अब बहुत ही कम रह गई हैं। पूंजीवाद के असमाधेय बुनियादी अन्तरविरोध के समाधान के लिए इतिहास की व्यग्रता बढ़ती जा रही है और पूंजीवाद का राजनीतिक-बौद्धिक-विचारधारात्मक संकट अपने उग्रतम रूपों में सामने आता जा रहा है। वैभव के शिखर पर आसीन पश्चिमी समाज की प्रभुत्वशील विचारधारा एवं संस्कृति की आत्मिक रिक्तता एवं रुग्णता इसी का द्योतक है।

इतने स्पष्टीकरण के बाद फिर वापस लौटते हैं, इतिहास के प्रति पश्चिमी बुर्जुआ समाज के लगातार बदलते नजरिये की चर्चा की ओर।

कमोबेश उन्नीसवीं सदी के अंत तक पूंजीवाद के विकास की संभावनाएं संतृप्त हो चुकी थीं और वह अपनी चरम अवस्था साम्राज्यवाद की मंजिल में संक्रमण कर चुका था। इसके पूर्व, यानी मुक्त प्रतियोगिता वाले पूंजीवाद की मंजिल में उसके विकास की संभावना मौजूद थी; और तदनुरूप पश्चिमी समाज के चिन्तन में वह पतनशीलता और निराशा उन्नीसवीं सदी के अंत तक नहीं दिखाई देती, जैसा कि वर्तमान शताब्दी में, खासकर पहले विश्वयुद्ध के बाद पैदा हुई और जो बढ़ती ही चली गई। लेकिन, उन्नीसवीं सदी के मध्य से ही पूंजीवादी इतिहास-दर्शन की नकारात्मक, निष्क्रिय और प्रगतिविरोधी प्रवृत्तियां क्रमशः ज्यादा से ज्यादा मुखर होने लगी थीं। इसका कारण यह था कि उस समय तक पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली उत्पादक शक्तियों के विकास के पैरों में बेड़ी तो नहीं बनी थी, पर उन्नीसवीं सदी के मध्य तक यूरोप में सामन्तवाद पर निर्णायक विजय हासिल हो चुकी थी, बुर्जुआ वर्ग ने आजादी की मशाल फेंककर हाथों में राजदण्ड थाम लिया था, स्वतंत्रता-समानता-भ्रातृत्व का झण्डा और जनवाद की लाल टोपी धूल में लिथड़ी पड़ी थी और बुर्जुआ वर्ग का दर्शन और चिन्तन समग्र रूप में शासक वर्ग का दर्शन और चिन्तन बन चुका था। इसके साथ ही जून 1843 में सर्वहारा वर्ग ने पेरिस-बगावत करके अपनी ओर से खुले युद्ध की घोषणा भी कर दी थी, जिसका पहली महान उपलब्धि 1871 में पेरिस कम्यून की विजय थी। ठीक इसी के साथ-साथ उन्नीसवीं सदी के मध्य में सर्वहारा वर्ग की इतिहास दृष्टि और विचारधारा के रूप में नये युग का दर्शन - **द्वंद्वात्मक भौतिकवाद**- आविर्भूत हो चुका था जो भौतिकवाद का उच्चतम और सर्वाधिक सुसंगत रूप था। दूसरी ओर, बुर्जुआ भौतिकवादी दर्शन और इतिहास-दर्शन का विस्तार विभिन्न किस्म की अतिसरलीकृत भोंडी और गंवारू भौतिकवादी विचार सरणियों के रूप में (जिनका सर्वाधिक प्रतिनिधि संस्करण

प्रत्यक्षवाद या **पॉजिटिविज्म** था) तथा बुर्जुआ **प्रत्ययवादी दर्शन** और इतिहास दर्शन का विस्तार **नवहेगेलवाद** और **नीत्शे** के संकल्पवाद एवं **अतर्कबुद्धिवाद** के फासिस्ट दर्शन के रूप में हुआ। बुर्जुआ इतिहास-दर्शन के सकारात्मक विकास की संभावनाएं चुकने लगी थी और पतनशीलता के लक्षण प्रमुख अभिलाक्षणिकताओं के रूप में सामने आने लगे थे। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में यह सिद्ध हो गया कि भौतिकवाद के परिपक्व रूपों का बुर्जआ वर्ग के संकीर्ण वर्ग-हितों के साथ कोई मेल नहीं है।

वैज्ञानिक विकासजन्य दार्शनिक समस्याओं को हल कर पाने में क्लासिकीय जर्मन प्रत्ययवाद की असमर्थता ने जहां सर्वहारा की इतिहास दृष्टि और दर्शन की संरचना में मदद पहुंचाई, वहीं बुर्जुआ चिन्तन के दायरे के भीतर इसका प्रतिषेध **कोंत, मिल** और **स्पेन्सर** के प्रत्यक्षवाद के रूप में सामने आया जो ठोस आनुभविक विज्ञानों को ही सच्चे ज्ञान का स्रोत मानता है और दार्शनिक अध्ययन के संज्ञानात्मक मूल्य को अस्वीकार कर देता है। प्रत्यक्षवाद वस्तुत: चरम तार्किक निष्कर्षों तक पहुंचा हुआ अनुभववाद है। विज्ञान के आधार पर समाज के रूपान्तरण की बात करते हुए भी प्रत्यक्षवाद ने प्रकारान्तर से इतिहास निर्माण में मनोगत उपादानों की भूमिका को अस्वीकार करके निठल्ले नियतिवादी चिन्तन को बल प्रदान किया। यह पश्चिमी समाज के उस प्रभुवर्ग का दर्शन था जो इतिहास-निर्माण की शक्ति खो चुका था, वस्तुपरक आत्मालोचन या स्थिति-विश्लेषण की जिसे कोई आवश्यकता नहीं थी और इतिहास को आगे ले जाने वाली नई सामाजिक शक्ति-सर्वहारा वर्ग - जिसके एकदम सामने खड़ी थी। यह स्वाभाविक ही प्रतीत होता है कि उन्नीसवीं और बीसवीं सदियों के सन्धिकाल में द्वंद्वात्मक भौतिकवाद से हुए सभी दार्शनिक विचलन और इसकी सभी विकृतियां प्रत्यक्षवाद के अन्धकूप में जाकर विलीन हो गईं। प्रत्यक्षवाद की दूसरी मंजिल गत शताब्दी के आठवें-दशवें दशकों में माख और आवेनारिउस द्वारा प्रवर्तित आलोचनात्मक अनुभववाद की थी, जिसने वस्तुगत रूप से यथार्थ वस्तुओं की औपचारिक स्वीकृति तक को तिलांजलि दे दी जो प्रारम्भिक प्रत्यक्षवाद की विशेषता थी तथा संज्ञान (कॉग्नीशन) की समस्याओं की मनोविज्ञानवादी एवं आत्मगतवादी व्याख्याएं प्रस्तुत की। प्रत्यक्षवाद के ही दार्शनिक आधार पर उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जन्मा आधुनिक **अमेरिकी प्रकृतिवाद** भी खड़ा था जो निष्क्रियता, सामाजिक संघर्ष के परित्याग, लोगों के सुख-दुख की उपेक्षा और मानव-जीवन के निकृष्ट पहलुओं में विशेष रुचि के विचार प्रतिपादित करता है।

आगे चलकर हम देखते हैं कि साम्राज्यवाद के युग में इतिहास निर्माण के अलग-अलग कारकों की भूमिका की विकृति के साथ **संकल्पवाद (वॉलण्टरिज्म)** के सबसे प्रतिक्रियावादी विचारों के संयोजन के फलस्वरूप इतिहास की घोर प्रतिक्रियावादी, मानवद्रोही अवधारणाएं - **नवमाल्थसवाद, भू-राजनीति, नस्लवाद** और **फासिज्म** के रूप में सामने आई तथा इतिहास के बुर्जुआ दर्शन में **सारसंग्रहवाद** या **'एक्लेक्टिसिज्म'** (कारकों के सिद्धान्त) तथा अज्ञेयवाद का प्रसार हुआ।

चूंकि इन सभी धाराओं और प्रवृत्तियों की चर्चा यहां सम्भव नहीं है, अत: हम **स्पेंग्लर, टॉयनबी** जैसे बुर्जुआ इतिहास दर्शन के सर्वाधिक प्रभावकारी पुरोधाओं के विचारों की संक्षिप्त विवेचना के बाद जल्दी से जल्दी द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर और फिर समकालीन शीतयुद्धोत्तर परिदृश्य की चर्चा तक पहुंचने की कोशिश करेंगे।

पुनर्जागरण काल से लेकर बुर्जुआ क्रान्तियों के मुकम्मल होने के काल तक, यानी उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक, अपनी विसंगतियों, विरोधाभासों और अन्तरविरोधों के क्रमश: स्पष्ट होते जाने के बावजूद पूंजीवाद एक सर्जनात्मक ऐतिहासिक शक्ति था, जिसमें आत्म-विश्लेषण और आत्मालोचना का साहस था और नैतिक विवेक भी। पर उसके स्वत्व के अपरिहार्य संकुचन और 'स्व' के दरिद्रीकरण की प्रक्रिया भी कमोबेश इस सदी के मध्य तक गति पकड़ चुकी थी।

तकनॉलॉजी की अभूतपूर्व प्रगति के बावजूद बुर्जुआ सृजनशीलता की कृच्छता और उसका निर्विवाद प्रतिफल - अराजकता उजागर होता जा रहा था। स्पेंग्लर के बाद बुर्जुआ इतिहासदर्शन की यात्रा, एक विनाशकारी खाई में समाप्त होने वाली ढलान की ओर बढ़ने के समान थी और बीसवीं शताब्दी में तमाम गत्यावरोधकों के इस्तेमाल तथा मोड़ों-घुमावों का सहारा लेने के बावजूद इस ढलान पर तेजी से लुढ़कना जारी रहा। वर्चस्ववाद और एकाधिकार के नये-नये और चरम रूपों के आविष्कार के बावजूद, भौतिक समृद्धि के शिखर पर बैठी पश्चिमी सभ्यता नाश, पतन और मृत्यु के ही गीत गाती रही है तथा पराभव और मृत्यु के दर्शन और सौन्दर्यशास्त्र रचती रही है। यह आत्मभर्त्सना करती रही है और रोती रही है।

बीसवीं सदी का इतिहास साम्राज्यवाद का इतिहास है। वित्तीय पूंजी के वर्चस्व और विश्व पूंजीवाद की अन्तरराष्ट्रीय बाजार व्यवस्था के उदय, मन्दी-महामन्दी, दो-दो विश्वयुद्धों, पहले से भिन्न उपनिवेशवाद, नवउपनिवेशवाद और फिर आर्थिक नवउपनिवेशवाद और भूमण्डलीकृत विश्व-व्यवस्था के अभूतपूर्व ढांचागत संकट की यह सदी सर्वहारा क्रान्तियों और राष्ट्रीय मुक्ति-युद्धों की भी सदी रही है। यद्यपि सर्वहारा क्रान्तियों के प्रथम संस्करण पराजित हो चुके हैं और राष्ट्रीय मुक्ति युद्धों के बाद कायम हुई आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्थाएं पश्चिमी शीर्ष के मातहत विश्व पूंजीवादी तंत्र के साथ एकरूप हो चुकी हैं, फिर भी इस सदी के अंत का ऐतिहासिक यथार्थ यह है कि विश्व पूंजीवाद समाजवाद पर अपनी सामयिक विजय के बावजूद पहले हमेशा से भिन्न, अभूतपूर्व रूप से गंभीर होते जा रहे, असाध्य ढांचागत संकटों और अन्तरविरोधों से ग्रस्त है और कभी-कभी तो ऐसा लगता है मानो पश्चिमी समाज अपने भीतर की रिक्तता, कलह-विग्रह और विसंगतियों से ही विखंडित हो जायेगा। हालांकि, आज भी सच यही है कि इस विस्फोट की शुरुआत विश्व पूंजीवादी तंत्र की कमजोर कड़ियों के टूटने से ही होगी।

आज जिस तरह कला-साहित्य-संस्कृति के क्षेत्र में, उसी तरह इतिहास-दर्शन के क्षेत्र में भी, पश्चिमी समाज के कूड़े के ढेर पर कुकुरमुत्ते की तरह पैदा होने वाले नये-नये विचार और स्कूल यही बताते हैं कि पूंजीवादी आत्मा अब मानवता को कुछ भी दे सकने की क्षमता से रिक्त होकर, तमाम भौतिक समृद्धियों के बावजूद दयनीय और दारुण रूप से चीख रही है और विलाप कर रही है। बीसवीं सदी की पश्चिमी विचारयात्रा की चर्चा करते हुए हम स्पेंग्लर से फ्रांसिस फुकोयामा तक कुछ चुनी हुई विचार-सरणियों या स्कूलों की संक्षिप्त विवेचना करेंगे। बीसवीं सदी में स्पेंग्लर और टॉयनबी के विचारों ने आधुनिक बुर्जुआ इतिहास-दर्शन को जितनी व्यापकता और गहराई के साथ प्रभावित किया उतना शायद अन्य किसी के विचार ने नहीं।

ओस्वाल्ड स्पेंग्लर (1880-1926) जर्मन प्रत्ययवादी दार्शनिक तथा इतिहास और संस्कृति का सिद्धान्तकार था जिसकी मुख्य कृति **'डिक्लाइन आफ द वेस्ट'** (दो खण्डों में, 1918-22) पहले विश्वयुद्ध में जर्मनी की पराजय के ठीक बाद प्रकाशित हुई और फिर इसने बिक्री का जो कीर्तिमान स्थापित

किया, वह शायद अभी तक टूटा नहीं है। आत्मलोचन की लम्बी पश्चिमी परम्परा का पराभव साम्राज्यवाद की सदी के प्रथम चतुर्थांश में स्पेंग्लर की इतिहास-विषयक गहन निराशावादी और नियतत्ववादी निष्पत्तियों में हुआ।

'डिक्लाइन आफ द वेस्ट' की विस्मयकारी सफलता ने पश्चिम में स्पेंग्लर को "मानव मस्तिष्क का सर्वाधिक प्रभावशाली शासक" बना दिया। इसके वास्तविक कारण इस पुस्तक से अधिक पश्चिमी पूंजीवाद देशों के बाह्य सामाजिक-राजनीतिक कारणों में निहित थे। पहले विश्वयुद्ध के पहले कैसर का जर्मनी पूंजीवादी विकास-पथ पर चमत्कारी तीव्र गति से आगे बढ़ रहा था और "साम्राज्यवाद की सदी" के पहले दशक में ही विश्व बाजार में अपने हिस्से की मांग को लेकर पुरानी औपनिवेशिक शक्तियों को उग्र चुनौती देने लगा था। युद्ध में उसकी पराजय ने न केवल उसके उज्जवल भविष्य के बारे में सभी भ्रमों को ध्वस्त कर दिया बल्कि पूरे यूरोप के बुर्जुआ विचारकों और बुद्धिजीवियों के समक्ष पूंजीवाद के भविष्य के बारे में प्रश्नचिह्नों का अम्बार खड़ा कर दिया। मानो उनकी पूरी दुनिया और सपने ही नष्ट हो गये हों और बस अराजकता ही शेष रह गई हो। फिलिस्टाइन आत्मा भयाक्रान्त हो उठी। युद्ध की विभीषिका और उत्तरवर्ती, आसन्न, संभावित क्रान्तियों के भय से किंकर्तव्यविमूढ़ पूंजीवादी विश्व के सिद्धान्तकारों के लिए यह स्वाभाविक था कि वे युगीन सच्चाइयों को इस प्रकार व्याख्यायित करें मानो वे भाग्य की अन्धशक्तियों द्वारा संचालित कोई अनिवार्य वास्तविकताएं हों। स्पेंग्लर ने विश्व-इतिहास के विकास का जो प्रारूप प्रस्तुत किया, उसका कोई वैज्ञानिक आधार नहीं था। अपने तमाम दार्शनिक शब्दाडम्बर के बावजूद यह एक भविष्यवक्ता द्वारा प्रस्तुत दुर्भाग्यपूर्ण नियति की भाग्यवादी व्याख्या से अधिक कुछ भी नहीं था जिसमें पश्चिमी समाज के "ऐतिहासिक पापों" की आत्मस्वीकृति भी निहित थी। किसी भी वैज्ञानिक आन्तरिक तर्क के अभाव के बावजूद स्पेंग्लर के इतिहास-दर्शन में निहित निष्पत्तियों और संकटग्रस्त पूंजीवादी पश्चिमी दुनिया के यथार्थ एवं उसकी संभावित परिणतियों में जो प्रतीतिगत साम्य दिखाई पड़ रहा था, उसने स्पेंग्लर को पश्चिमी बौद्धिक जगत का मसीहा बना दिया।

स्पेंग्लर ने नीत्शे के प्रतिक्रियावादी चिन्तन का ही विस्तार देते हुए "पुरानी प्रशियाई भावना", राजतंत्र, अभिजात वर्ग तथा सैन्यवाद का गुणगान किया और युद्ध को मानव अस्तित्व का शाश्वत रूप बताया। जाहिर है कि पराजित जर्मन निम्न पूंजीवादी जमातों के आहत मन पर इन प्रस्थापनाओं ने मलहम लगाया। नात्सीवाद के आविर्भाव और प्रभाव-विस्तार की वैचारिक पूर्वपीठिका तैयार करने में भी इसे काफी सहायता मिली।

आर्नल्ड टॉयन्बी, पितरिम सोरोकिन या आज के पश्चिमी थिंक टैंक फ्रांसिस फुकोयामा के विचार भी सारत: स्पेंग्लर की विचार-सरणि एवं विचार पद्धति के ही विकसित, विस्तारित और परिष्कृत रूप हैं जो वैचारिक मोतियाबिन्द और वैज्ञानिक इतिहास-दृष्टिहीनता की रतौंधी के शिकार बुद्धिजीवियों में ठीक वैसा ही दृष्टिभ्रम पैदा करते हैं।

स्पेंग्लर ने इतिहास के भौतिकवादी बोध के समान्तर प्रत्ययवादी नियतिवाद को रखा और नियमशासित ऐतिहासिक प्रगति की अवधारणा को अस्वीकार किया। स्पेंग्लर का नितान्त सापेक्षतावाद वस्तुगत और विश्वजनीन अनिवार्य सच्चाइयों के होने से इंकार करता है और दर्शन की संज्ञानात्मक (कागनटिव) संभावनाओं को स्वीकार करता है। स्पेंग्लर के अनुसार, इतिहास अनेकश: स्वतंत्र, अनन्य, बन्द चक्रीय संस्कृतियों में बंटा हुआ है, जिनकी अपनी-अपनी नियति होती है और जो जन्म, पल्लवन और अवसान की अवधियों से गुजरती हैं। सभ्यता की व्याख्या उसने एकदम निराधार रूप से आध्यात्मिक संस्कृति के पतन की अंतिम मंजिल के रूप में की और सामाजिक विकास के स्तर तथा विशिष्ट सामाजिक आर्थिक संरचना की भौतिक संस्कृति जैसी चीजों को एकदम नजरअन्दाज कर दिया। संस्कृति को उसने विश्व के अतीत, वर्तमान और भविष्य की "आदि गति" के रूप में देखा जो लोगों, भाषाओं, विश्वासों, कला की किस्मों, राज्यों और विज्ञानों के रूप में अपनी समस्त संभावनाओं के वास्तविकता में रूपान्तरित हो जाने के बाद निश्शेष हो जाती है। उसके आन्तरिक स्रोत चुक जाते हैं, तो वह एकाएक "जम जाती है" और सूख जाती है। सभ्यता संस्कृति का ही पतनशील रूप और अंतिम मंजिल होती है। पश्चिमी समाज के ऊपर अपने इस माडल को लागू करते हुए स्पेंग्लर ने यह स्थापना प्रस्तुत की कि उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में, यानी पूंजीवाद की विजय के साथ, पश्चिमी संस्कृति ने पतन की मंजिल में प्रवेश किया और पूर्ववर्ती "संस्कृति" बिगड़कर "सभ्यता" बन गई। साथ ही उसने यह भी भविष्यवाणी की कि अगली सहस्राब्दी की प्रारम्भिक शताब्दियों के दौरान जो कुछ भी घटने वाला है उसे "पश्चिम का पतन" कहा जायेगा।

बहुत सारे बुर्जुआ बुद्धिजीवियों को स्पेंग्लर के ये निष्कर्ष इतिहास के अनुभववादी प्रेक्षण से निगमित निष्कर्षों-संभावनाओं से मेल खाते दिखाई देते हैं, और वे वैज्ञानिक तर्क-प्रणाली या इतिहास-विकास की गति की सुनिश्चित वैज्ञानिक समझदारी के अभाव को लक्षित किये बिना स्पेंग्लर के अलग-अलग वैध निष्कर्षों से सम्मोहित होकर उसके आकृतिमूलक और ऐतिहासिक, बनावटी अनुरूपताओं की भूल-भूलैया में खो जाते हैं। आर्नल्ड टॉयन्बी, पितरिम सोरोकिन या आज के पश्चिमी थिंक टैंक फ्रांसिस फुकोयामा के विचार भी सारत: स्पेंग्लर की विचार-सरणि एवं विचार पद्धति के ही विकसित, विस्तारित और परिष्कृत रूप हैं जो वैचारिक मोतियाबिन्द और वैज्ञानिक इतिहास-दृष्टिहीनता की रतौंधी के शिकार बुद्धिजीवियों में ठीक वैसा ही दृष्टिभ्रम पैदा करते हैं।

पश्चिमी समाज की आत्मिक संस्कृति की पतनशीलता, भौतिक समृद्धि के संकटों और महायुद्ध जैसी आत्मघाती विनाशकारी परिणतियों के रूप में पूंजीवाद की साम्राज्यवादी अवस्था की जो अभिलाक्षणिकताएं सामने आईं उन्हें "स्पेंग्लर मसीह" की इन "प्रकाशनाओं" (रेवेलेशन या एपोकैलिप्स) से काफी राहत मिली कि ये सच्चाइयां भाग्य की अन्धशक्तियों द्वारा संचालित अनिवार्य वास्तविकताएं हैं। पूंजीवाद अब जीने की शक्ति इसी तरह से प्राप्त कर सकता था। स्पेंग्लर का चिन्तन पूंजीवादी चिन्तन की एक ऐतिहासिक अभिव्यक्ति था, पश्चिमी समाज की वास्तविकता का प्रतिबिम्ब और प्रतिफलन था तथा साथ ही, उसकी एक जरूरत भी था।

स्पेंग्लर द्वारा "ऐतिहासिक मानव जाति की अलौकिक संरचना" की खोज स्वतंत्र प्रतियोगितात्मक पूंजीवाद के दौर तक इतिहास-दर्शन विषयक चिन्तन में निर्णायक रूप से प्रभावी राष्ट्र-राज्यों की स्थिति से निर्धारित सीमाओं का अतिक्रमण करती थी और यह साम्राज्यवाद के दौर की एक जरूरत भी थी। आम तौर पर इतिहास का, और खास तौर पर

अस्तित्व की गूढ़ रहस्यात्मक गहराइयों के रूप में संस्कृति का, स्पेंग्लर कृत आध्यात्मिक विवेचन और प्रगति के विचार का निषेध वस्तुगत तौर पर पूंजीवादी दार्शनिक चिन्तन के सम्पूर्ण दौर से निर्देशित और पूंजीवादी समाज व्यवस्था की आवश्यकताओं (और साथ ही विवशताओं) से अनुकूलित हुआ था। प्रकृति और समाज के द्वंद्वात्मक बोध से इंकार और आदर्शवादी व्यक्तिनिष्ठता एवं संशयवाद के चरम रूपों की ओर झुकाव का यही कारण था।

स्पेंग्लर के चिन्तन में निहित विरोधाभास भी वास्तव में साम्राज्यवादी पश्चिमी समाज के अन्तरविरोधों की ही अभिव्यक्ति थे। इन विरोधाभासों की विस्तृत चर्चा यहां सम्भव नहीं है। बस इतना इंगित कर देना काफी होगा कि एक ओर जहां स्पेंग्लर पश्चिमी समाज के अंधकारमय भविष्य की घोषणा करता है वहीं उसकी पुस्तक में जबर्दस्ती के आशावाद तथा यथार्थ एवं सुदूरवर्ती सम्भावनाओं को बहुत ज्यादा बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत किया गया है। इसके लिए वह दूरदृष्टि-सम्पन्न धर्मतत्वज्ञ सेण्ट जॉन का चोंगा भी पहनता है, पर होता यह है कि सेण्ट जॉन के "प्रकाशना" (रेवलेशन) में निहित घनीभूत निराशा उसके द्वारा प्रस्तुत तस्वीर के पूरे फलक को भी आच्छादित कर लेती है। सेण्ट जॉन की भविष्यवाणी है कि शीघ्र ही "समुद्र के अतल गर्भ से एक हिंसक पशु" "फैसले के दिन" प्रकट होगा और इस "विश्व का अन्त" हो जायेगा। सृष्टि के अन्त की बात न करते हुए भी स्पेंग्लर की तस्वीर इससे कुछ कम निराशाजनक नहीं है। सही ही है। पूंजीवाद के लिए उसका अपना अन्त ही तो मानो सृष्टि का अन्त है।

मजे की बात यह है कि जहां धर्मतत्वज्ञ सेण्ट जॉन ने धरती पर ईसा से एक हजार वर्ष के शासन की बात की है, वहीं स्पेंग्लर ने लिखा है कि "प्रत्येक संस्कृति के जीवन की आदर्श अवधि एक हजार वर्ष होती है।" और मजे की बात इस तथ्य को भी याद करना है कि 1916 में ही स्पेनिश लेखक **ब्लास्को इवानेज** का उपन्यास 'प्रकाशना के चार घुड़सवार' भी प्रकाशित हुआ था जिसमें समुद्र से भविष्यसूचक हिंस्र पशु के निकलने और फिर सेण्ट जॉन की दृष्टि के अनुरूप चार घुड़सवारों के आगमन के वर्णन के ज़रिए पाठकों के समक्ष मृत्यु की भयंकर गहराइयों और भाग्यवादी नैराश्य का वर्णन किया गया था। क्या यह पूंजीवाद के दुष्कर्मों की मानवता की त्रासद नियति के रूप में व्याख्या नहीं थी?

पूंजीवादी विश्व के संकट का पूर्वाभास **नीत्शे** ने विगत शताब्दी के अस्सी के दशक में ही अपनी पुस्तक **'देर विले जूर माश्त'** में दे दिया था जब उसने लिखा था कि "यूरोपीय संस्कृति तनाव की एक तरह की यातना में गतिमान रही है और एक शताब्दी से गुजरकर दूसरी शताब्दी की ओर बढ़ती हुई मानो वह किसी विनाश की ओर अग्रसर है : उसका स्वरूप अशान्त है, प्रचण्ड धाराओं के तूफान दिखते रहे हैं और अक्सर लगा है कि वह अपने गन्तव्य की ओर तेजी से बढ़ते हुए कुछ भी प्रतिबिम्बित नहीं कर रही है, बल्कि प्रतिबिम्बित करने से घबड़ा रही है।"

नीत्शे के एक अनुयाई और "अशांत यूरोपीय संस्कृति" के प्रतिनिधि स्पेंग्लर ने पहले महायुद्ध की विभीषिका के साये में बैठकर "निर्भीकतापूर्वक" पूंजीवादी समाज की नियति पर चिन्तन किया और पूंजीवाद को "निष्काम कर्मयोगी" के समान लूट-पाट, युद्ध और विनाश के पथ पर चलते जाने के कर्तव्य को मानो अपनी त्रासद नियति के रूप में स्वीकार करने का परोक्ष उपदेश दिया। नात्सीवाद के वैचारिक आधार की संरचना-प्रक्रिया को यों भी समझा जा सकता है।

संस्कृति के जन्म, विकास और अवसान विषयक स्पेंग्लर की रहस्यात्मक अवधारणा वर्गों की अवधारणा को विकृत करती है और इतिहास में वर्ग-संघर्ष की भूमिका को नकारती है। वह साम्राज्यवाद की वास्तविक बुराइयों की व्याख्या विश्वजनीन सांस्कृतिक संकट की अभिव्यक्ति के रूप में करता है और ह्रासमान सामाजिक शक्तियों के विरुद्ध नई सामाजिक शक्तियों के संघर्ष को नकार देता है। स्पेंग्लर का चिंतन तत्कालीन पूंजीवादी सामाजिक चेतना के स्तर एवं मांग के अनुकूल था, उसका आदर्श घोषणा-पत्र था। स्पेंग्लर का नियतत्ववाद पूंजीवाद के आम संकट के दौर के सामाजिक मनोविज्ञान के अनुरूप था। उसका चिन्तन पूंजीवाद की आत्मभर्त्सना था। यह शिखर पर रुदन की शुरुआत थी।

समकालीन पूंजीवाद के सांस्कृतिक इतिहास की विवेचना करते हुए सोवियत संशोधनवादी विद्वान ए. कुकार्किन अपनी पुस्तक 'द पासिंग एज़' में बिल्कुल सही-सटीक ढंग से स्पेंग्लर के चिन्तन में निहित निराशावाद, भाग्यवाद, सन्देहवाद और शून्यवाद को पूंजीपति वर्ग के ऐतिहासिक लक्ष्यों में आये परिवर्तनों का नतीजा बताता है और लिखता है : "भविष्य को हासिल करने के लिए अतीत से संघर्ष करने के बदले, जैसा कि पूंजीपति वर्ग ने सोलहवीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक किया था, अब वह आगे बढ़कर पूंजीवाद के साम्राज्यवादी विकास की मंजिल में पहुंच चुका था और अतीत के लिए भविष्य से संघर्ष कर रहा था।"

ऐसा नहीं है कि इतिहास, जीवन, समाज और मानवीय सारतत्व के प्रति पश्चिमी समाज के दृष्टिकोण में निराशा, रिक्तता, अन्धकार और मानवद्रोही प्रवृत्तियां एक सीधी रेखा में बढ़ती चली गई हैं। इसके इतिहास-दर्शन और बौद्धिक-सांस्कृतिक जीवन में ह्रास के लक्षण क्रमशः बढ़ते गये हैं, पर एक आरोही-अवरोही क्रम में, घटाव-बढ़ाव के रूप में आशा-निराशा के स्वर साथ-साथ प्रकट होते रहे हैं और उनके सह-अस्तित्व की गति की पूंजीवादी समाज के संकटों के आरोहों-अवरोहों, अर्थव्यवस्था और उत्पादन में आये परिवर्तनों, युद्धों और क्रान्तियों आदि-आदि से अनुकूलित होते रहे हैं। समग्रता में, विगत लगभग दो शताब्दियों के इतिहास पर नज़र डालने पर यह स्पष्ट होता है कि पूंजीवादी क्रान्तियों के मुकम्मिल होने और सर्वहारा संघर्षों की शुरुआत के समय से, आशा और सार्थकता के साथ-साथ निराशा और रिक्तता के स्वर धीरे-धीरे ज्यादा से ज्यादा मुखर और गहरे होते गये हैं और साम्राज्यवाद की सदी आने के साथ ही निराशा, रिक्तता, भय और आशंका के स्वर अपनी प्रतिलोमी प्रवृत्ति पर ज्यादा हावी दिखने लगे हैं, उनके दौर जल्दी-जल्दी आने लगे हैं तथा अपने प्रतिलोमी दौर के मुकाबले ज्यादा से ज्यादा लम्बे होते चले गये हैं। इसके साथ ही बुर्जुआ इतिहास-दर्शन में आशा का तर्क ज्यादा से ज्यादा खोखला, अवास्तविक, भाग्यवादी और प्रत्ययवादी होता चला गया है।

आर्नल्ड जोसेफ टॉयनबी (1889-1975) ने इस शताब्दी में तीस के दशक से लेकर पचास के दशक के अंत तक जिस इतिहास-दर्शन का प्रतिपादन और प्रचार किया वह स्पेंग्लर के इतिहास दर्शन के बहुत निकट था, उसका अधिक पाण्डित्यपूर्ण संस्करण था जिसके भीतर नवपुरोहितवादी नजरिए से आशावाद घुसाने की भरपूर कोशिश की गई थी और स्पेंग्लर की निराशा के विपरीत इतिहास की चालक शक्तियों की खोज धर्मशास्त्र में करते हुए "पश्चिमी सभ्यता" की रक्षा की संभावनाओं को सिद्ध करने की कोशिश की गई थी। टॉयनबी ने बेलागलपेट यह घोषणा की कि 'इतिहास अध्यात्म में अतिक्रमण कर जाता है' (सिविलाइजेशन ऑन ट्रायल, 1928,

भूमिका,

टॉयनबी की मुख्य कृति 'स्टडी ऑफ हिस्ट्री' नामक विशद ग्रन्थ है जिसके बारह खण्ड 1932 से 1961 के बीच प्रकाशित हुए, पर टायनबी अपने चिन्तन का मूल अवधारणात्मक ढांचा तीस के दशक में तैयार कर चुके थे। गौरतलब है कि यही वह दशक था जब विश्व पूंजीवादी तंत्र महामन्दी की दुश्चक्रीय निराशा से गुजरता हुआ दूसरे विश्वयुद्ध की महाविभीषिका की ओर घिसटता जा रहा था। नात्सीवाद और फासीवाद के भस्मासुर यूरोप को रौंद रहे थे। उधर दुनिया का पहला मेहनतकश राज – सोवियत संघ विश्वव्यापी आर्थिक संकट से अछूता विकास की नई बुलन्दियों को छू रहा था। ऐसे समय में बुर्जुआ मानस जुझारू भौतिकवादी चिन्तन-परम्परा और यथार्थवादी तर्क-प्रणाली को पीछे छोड़कर यदि पूंजीवादी अपराधों की नियतिवादी व्याख्या कर रहा था और पुरोहितवाद और धर्मशास्त्र में पश्चिमी सभ्यता की रक्षा की संभावनाएं देख रहा था और सिद्ध कर रहा था तो यह कोई आश्चर्यजनक नहीं था। टायनबी ने सर्वाधिक पाण्डित्यपूर्ण ढंग से इस कार्य को सम्पन्न किया, लेकिन वर्द्याएव और नीवुन्ह जैसे इतिहासकारों का दृष्टिकोण भी मूलत: ऐसा ही था। टॉयनबी ने सामाजिक प्रगति की अवधारणा के स्थान पर "चक्रों के सिद्धान्त" का प्रतिपादन किया और स्पेंगलर से काफी समानता रखते हुए विश्व इतिहास को ऐसी नाना सभ्यताओं का योग बताया जो एक ही तरह के दौरों से गुजरती है : जन्म, संवर्धन, पतन, विघटन और विनाश। इतिहास की चालक शक्तियों पर विचार करते हुए टॉयनबी ने ईश्वर के साथ सायुज्य की आशाओं को "सृजनकारी" व्यक्तियों की पूजा के साथ जोड़ा और इसे ही इतिहास का अर्थ बताया। इस तरह परलोकवाद में पश्चिमी सभ्यता की रक्षा की सम्भावनाएं देखने वाला टॉयनबी का कथित आशावादी दृष्टिकोण यथार्थ और तर्क से पूरी तरह मुंह चुराने वाला पलायनवादी और निराशावादी दृष्टिकोण था। यह एक तरह की पुनरुत्थानवादी इतिहास-दृष्टि थी जो नीत्शे और स्पेंगलर की चिन्तनधारा की ही अगली कड़ी थी। टॉयनबी के चिन्तन में पूंजीवाद अतीत के लिए भविष्य से संघर्ष करता हुआ और अपने कुरूप वर्तमान और अन्धकारमय भविष्य से मुंह चुराकर वैराग्यवाद और परलोकशास्त्र के अतीतान्मुखी दर्शन में पनाह लेता हुआ एकदम स्पष्ट रूप में दिखाई देता है। इतिहास की वास्तविक गति को देख पाने का साहस न जुटा पाने के कारण टॉयनबी की मिथ्या चेतना उसे अध्यात्म में संक्रमण करा देती है। पूंजीवाद मानो अपने पापों को स्वीकार करता हुआ "पादरी" टॉयनबी की मध्यस्थता में प्रभु यीशू की शरण में चला जाता है।

> आगे चलकर जो अनेकश: सिद्धान्त इतिहास-विकास में तकनीक की भूमिका का निरपेक्षीकरण करते हुए, उसे केन्द्रीय भूमिका प्रदान करते हुए, सामाजिक वर्ग संघर्षों की अपरिहार्यता को खारिज करते हुए और मानव इतिहास को उसके अन्तर्य से – मानवीय सार तत्व से रिक्त करते हुए सामने आये, उन सबका बुनियादी आधार रोस्तोव के सिद्धान्त में ही निहित था।

पूंजीवादी इतिहास-दर्शन के आशावादी रूपान्तरण का अन्तिम मौलिक प्रयास शायद अमेरिकी समाजशास्त्री **डब्ल्यू. रोस्तोव** द्वारा पचास के दशक में प्रतिपादित आर्थिक संवृद्धि की मंजिलों का सिद्धान्त या समेकित औद्योगिक समाज का सिद्धान्त था। उत्तर औद्योगिक समाज के सिद्धान्त के अन्तर्गत हम डब्ल्यू. रोस्तोव के सिद्धान्त को भी समाहित कर सकते है जिसके साथ **जे. गालब्रेथ, बेल, एच. काहन** और **रेमों आरों** के नाम भी जुड़ जाते है। रोस्तोव ने सर्वप्रथम अपने सिद्धान्त का निरूपण **गैरकम्युनिस्ट घोषणापत्र** शीर्षक अपनी कृति में 1960 में किया। स्पेंगलर और टॉयनबी के नैराश्य और नियतिवाद से अलग हटकर रोस्तोव ने ऐतिहासिक भौतिकवाद द्वारा इतिहास-विकास की गति एवं दिशा की एक "जवाबी बुर्जुआ पैरोडी" पेश की जिसमें आत्मगत शक्तियों या सामाजिक वर्ग संघर्ष की भूमिका के बिना, अनेकश: वस्तुगत कारक तत्वों की स्वतंत्र गति से मानव समाज को गतिमान सिद्ध किया और उसके भविष्य की एक तस्वीर आंकी।

रोस्तोव ने इतिहास को पांच मंजिलों में बांटा : (i) "परम्परागत समाज" जिसमें समाज की समस्त प्राक्पूंजीवादी अवस्थाएं शामिल हैं तथा श्रम-उत्पादकता का निम्न स्तर और कृषि की प्रधानता इसकी अभिलाक्षणिकताएं हैं ; (ii) "संक्रमणकालीन समाज" जिसकी अभिलाक्षणिकताएं प्राक्-एकाधिकारी पूंजीवाद में संक्रमण से मिलती-जुलती है ; (iii) "अग्रगति की अवधि" - जिसकी अभिलाक्षणिकताएं औद्योगिक क्रान्ति औद्योगीकरण का समारम्भ है; (iv) "परिपक्वता की अवधि" - जिस दौरान औद्योगीकरण के कार्य पूरे हो जाते हैं और औद्योगिक दृष्टि से विकसित देशों का जन्म होता है; और (v) "जन-उपभोग के उच्च स्तर का युग" जिसके बारे में रोस्तोव का कहना था कि आर्थिक संवृद्धि की इस ऐतिहासिक मंजिल तक सिर्फ अमेरिकी समाज ही पहुंच सका है। अपनी बाद की कृतियों में रोस्तोव एक छठी मंजिल को – "जीवन की गुणवत्ता" की मंजिल की परिकल्पना प्रस्तुत करते हैं जहां पहुंचकर पर्यावरण की रक्षा, विश्व सरकार आदि भूमण्डलीय समस्यायें हल की जायेंगी।

ऐतिहासिक भौतिकवाद का मुकाबला करने की दृष्टि से, अब तक के बुर्जुआ समाजशास्त्रीय स्कूलों में मौजूद व्यापक सामान्यीकरणों के अभाव के विपरीत रोस्तोव ने पूरे इतिहास की आम दिशा सम्बन्धी सामान्यीकरण के जरिए एक सार्विक दार्शनिक-समाजशास्त्रीय सिद्धान्त प्रस्तुत करने का दावा किया और यह स्वांग रचा कि पश्चिम अपने या समस्त मानव समाज के भविष्य के प्रति अनिश्चय, शंका और भय से ग्रस्त होकर नहीं जी रहा है। लेकिन रोस्तोव का समाज-विकास विषयक यह मॉडल भी अतीत के अनुभववादी प्रेक्षण और भविष्य के सतही अनुमानों पर ही आधारित है जिसका अपना कोई बुनियादी तर्क या गति के नियम नहीं हैं। इतिहास की आत्मगत कारक शक्तियों-वर्गों और सामाजिक वर्ग संघर्ष की भूमिका से रोस्तोव इंकार करता है। इतिहास-विकास के वास्तविक आधार के रूप में मनुष्य की उत्पादक कार्रवाई तथा उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों की अन्योन्य क्रिया के स्थान पर रोस्तोव तकनीकी, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक आदि अनेक कारकों की सार-संग्रहवादी अन्योन्य क्रिया को प्रतिष्ठापित करता है। हजारों वर्षों के क्रान्तियों और वर्ग संघर्षों के इतिहास के बुनियादी तर्क को खारिज करते हुए रोस्तोव समाज की स्वतंत्र वस्तुगत गति के रूप में एक नये प्रकार के अकर्मक नियतिवाद की प्रस्थापना करता है। अपने सामाजिक सार में गुणात्मक रूप से भिन्न होने के बावजूद रोस्तोव समाजवादी और पूंजीवादी समाज को दोनों को ही "औद्योगिक समाज" के दायरे में रखकर तादात्म्य बिठाने की कोशिश करता है। पूंजीवाद का औचित्य और उसी के विकाससमान नये-नये

रूपों में मानवता का भविष्य नि॰ करने की कोशिश करते हुए रोस्तोव समाजवादी क्रान्ति की आवश्यकता को नकारता है और यह स्थापना देता है कि पूरा संसार "समेकित औद्योगिक समाज" की ओर बढ़ रहा है जिसका प्रतिनिधि अमेरिका है। द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर काल में, यह इतिहास की प्रत्ययवादी अवधारणा का उत्कर्ष-बिन्दु था। आगे चलकर टेक्नोक्रेसी और मेरिटोक्रेसी के जो अनेकश: सिद्धान्त इतिहास-विकास में तकनीक की भूमिका का निरपेक्षीकरण करते हुए, उसे केन्द्रीय भूमिका प्रदान करते हुए, सामाजिक वर्ग संघर्षों की अपरिहार्यता को खारिज करते हुए और मानव इतिहास को उसके अन्तर्य से - मानवीय सार तत्व से रिक्त करते हुए सामने आये, उन सबका बुनियादी आधार रोस्तोव के सिद्धान्त में ही निहित था।

रैण्ड कारपोरेशन के थिंक टैंक और घोषित मार्क्सवाद विरोधी विचारक **फ्रांसिस फुकोयामा** से लेकर "मार्क्स का कर्ज" स्वीकार करने वाले **जॉक दरिदा, मिशेल फूको** और **ल्योतार** आदि किसिम-किसिम के उत्तर आधुनिकतावादी, उत्तर संरचनावादी और "उत्तर मार्क्सवादी" आज इतिहास विकास की व्याख्या करते हुए ऐसे दार्शनिक सामान्यीकरण प्रस्तुत कर रहे हैं जो प्रतीतिगत तर्कपरकता के बावजूद सारत: नियमसंगति या प्रगति की संकल्पनाओं का ही विरोध करते हैं और सबसे बढ़कर यह कि ये सभी दार्शनिक, इतिहासज्ञ और समाजशास्त्री इतिहास-निर्माण में सामाजिक शक्तियों की भूमिका का निरूपण तो दूर, उसकी चर्चा ही नहीं करते। इनकी चर्चा हम आगे करेंगे। यहां हम यह बताना चाहते हैं कि आज इलेक्ट्रानिक मीडिया और कम्प्यूटर के वर्चस्व के दौर में इतिहास निर्माण में मानव की, सामान्य जन की, उत्पादक वर्गों की भूमिका को (तथा साथ ही विचारधारा या सिद्धान्त की भूमिका को भी) नकारने वाले जितने भी सिद्धान्त इतिहास के विकास में तकनीक की भूमिका का निरपेक्षीकरण कर रहे हैं, उन सभी की जड़ें रोस्तोव के सिद्धान्त में तलाशी जा सकती हैं।

रोस्तोव पचास के दशक में जब पूंजीवादी इतिहास दर्शन का एक आशावादी रूपान्तरण प्रस्तुत कर रहा था, तब अभी पूंजीवाद अमेरिकी "वैभव और भव्यता के दिनों" पर अपनी आशाभरी नजर टिकाये हुए था। मैकार्थीवाद की कम्युनिज्म विरोधी मुहिम का माहौल अभी जारी था। यद्यपि चीनी क्रान्ति की प्रगति, वियतनाम, कोरिया और क्यूबा की क्रान्तियों और आगे कदम बढ़ाते राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों से विश्व पूंजीवादी तंत्र पर लगातार चोटें पड़ रही थीं लेकिन उसके लिए आशा और आह्लाद के भी कारक और स्रोत थे। उपनिवेशवादी तंत्र टूट रहा था, पर नवउपनिवेशवादी तंत्र न केवल मौजूद था बल्कि अमेरिका का नवऔपनिवेशिक प्रभाव विस्तार जारी था। पूंजी निवेश की नई-नई संभावनाएं दिखाई दे रही थीं। और हर्षातिरेक की बात यह थी कि स्तालिन की मृत्यु के बाद ख्रुश्चेव ने सोवियत संघ में पूंजीवाद की पुनर्स्थापना की शुरुआत कर दी थी और पूर्वी यूरोप के देश भी उसी दिशा में चल पड़े थे। जो काम पूंजीवाद खुले तौर पर कम्युनिज्म विरोध के नाम पर कर रहा था और दुनिया की आम जनता को प्रभावित नहीं कर पा रहा था वही काम ख्रुश्चेव ने समाजवाद के बैनर तले, लाल झण्डा लहराते हुए करना शुरू किया और न केवल भौतिक स्तर पर बल्कि विचारधारात्मक स्तर पर भी विश्व पूंजीवाद की महती सेवा की। विश्व स्तर पर वर्ग शक्ति सन्तुलन में आये इन अनुकूल परिवर्तनों ने निश्चित तौर पर पूंजीवादी इतिहास दर्शन में एक नये आशावाद का संचार किया जो रोस्तोव और उसकी मण्डली के "भविष्यशास्त्रियों" के सिद्धान्तों में सर्वाधिक प्रातिनिधिक रूप में अभिव्यक्त हुआ।

रोस्तोव की ही इतिहास दृष्टि को फ्रांसीसी समाजशास्त्री **रेमो आरों** साठ के दशक में जब अपने तथाकथित **"औद्योगिक समाजशास्त्र"** के अन्तर्गत आगे विस्तार दे रहे थे तो उनका मार्क्सवाद विरोध बहुत सूक्ष्म था। प्रौद्योगिकी और उद्योग को समाज विकास का निर्धारणकारी कारक तत्व मानते हुए भी उनका आशावादी स्वर काफी मद्धिम प्रतीत होता है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि साठ का दशक ही वह प्रसिद्ध दशक है जिसके उत्तरार्द्ध में अमेरिका के केनेडी कालीन "वैभव और भव्यता" का गुब्बारा पिचकने लगा था। वियतनाम में जनता की जीत सुनिश्चित हो चुकी थी। अमेरिका के भीतर ही जनता ने वियतनामी जनगण के विरुद्ध जारी साम्राज्यवादी अपराधों का विरोध शुरू कर दिया था और इसके साथ ही अश्वेतों के आन्दोलन, नागरिक अधिकार आन्दोलन और नारीवादी आन्दोलन भी उठ खड़े हुए थे। उधर स्वयं रेमो आरों के देश फ्रांस में छात्र आन्दोलन के उग्र ज्वार ने और उसके साथ ही उठ खड़े हुए मजदूरों एवं मध्यवर्गों के आन्दोलनों ने लौहपुरुष दगाल की सत्ता को भूलुण्ठित कर दिया था।

इससे कुछ और आगे चलकर, 1972 में बेल की पुस्तक **'उद्योगोत्तर समाज का उदय'** जब प्रकाशित हुई तो यह रोस्तोव की चिन्तन परम्परा की ही अग्रवर्ती कड़ी होने के बावजूद न तो उतनी व्यापक थी और न ही इसका आशावादी स्वर उतना मुखर था। बेल ने भी उद्योग एवं तकनोलॉजी को ही इतिहास की निर्धारणकारी शक्ति माना, पर साथ ही उसने समाज के शासन के नये सिद्धान्त के रूप में **'मेरिटोक्रेसी'** का सिद्धान्त प्रस्तुत किया जिसका अर्थ था अपनी खूबियों और योग्यताओं के आधार पर निर्वाचित व्यक्तियों को लेकर बनने वाली सरकार द्वारा शासित समाज, जिसमें ब्यूरोक्रेसी और टेक्नोक्रेसी का अंत हो जायेगा और समग्र रूप में समाज की वर्गीय संरचना बदल पाना संभव हो जायेगा। इसके पूर्व प्रकाशित **जे. बर्नहम** की कृति **'मैनेजरियल रेवोल्यूशन'** जहां एकदम नग्न कम्युनिज्म विरोध करते हुए अमेरिकी इजारेदारियों के खुले अधिनायकत्व की पैरवी कर रही थी, वहीं बेल की 'मेरिटोक्रेसी' की अवधारणा थोड़े बारीक ढंग से बुर्जुआ समाज के उन वर्गगत व्याघातों पर, विशेषकर सृजनकारी बुद्धिजीवी समुदाय और राजकीय इजारेदार पूंजी के बीच के अन्तर्विरोध पर पर्दा डालने का काम कर रही थी जो तीव्र एवं वैज्ञानिक तकनीकी परिवर्तनों के दौरों में उग्र हो जाया करते हैं।

बेल तक आते-आते वैज्ञानिक समाजवाद के विकल्प के तौर पर इतिहास विकास की आम दिशा का एक नया खाका प्रस्तुत करने वाला उत्तर औद्योगिक समाज का सिद्धान्त अपने आशावादी स्वर और "सांगोपांगता" खो चुका था। यह वह दौर था जब द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद पहली बार विश्व पूंजीवादी तंत्र मन्दी के दुश्चक्र में फंसता दिखाई दे रहा था। 'ऑयल शॉक' से पूरा पश्चिम त्रस्त था। रूस और अमेरिका - इन दो अतिमहाशक्तियों के बीच अन्तर साम्राज्यवादी प्रतियोगिता शिखर पर थी। अमेरिकी अर्थव्यवस्था का आंतरिक संकट भी गहराने लगा था। पश्चिम के भीतर से भी अमेरिकी विश्व प्रभुत्व को चुनौती मिलने लगी थी, डालर की लौह स्थिरता का मिथक टूट चुका था और ब्रेटनवुड्स समझौते में संहिताबद्ध 'डालर-गोल्ड स्टैण्डर्ड' भंग किया जा चुका था। पूंजीवाद के अमरत्व और अमेरिकी जीवनादर्श के मिथक खण्डित होने लगे थे। ईरान और निकारागुआ के क्रान्तिकारी संघर्ष

विजयोन्मुख थे और महाबली अमेरिका के ऐन पिछवाड़े दक्षिण अमेरिका में उभर रहे मुक्ति संघर्ष पलीता लगा रहे थे। यही वे परिस्थितियां थीं जो बेल आदि बुर्जुआ भविष्यशास्त्रियों के आशावादी और आत्मविश्वासी स्वर को मरियल बना रही थीं।

साठ के दशक के प्रारंभ में गाल्ब्रेथ, सोरोकिन, टिन्बर्गेन, आरों आदि इस धारा के बुर्जुआ समाजशास्त्री औद्योगिकोत्तर समाज की अपनी अवधारणाओं के साथ-साथ अभिसरण सिद्धान्त (थियरी आफ कन्वर्जेन्स) भी प्रस्तुत कर रहे थे जिसके अनुसार आधुनिक पूंजीवाद में समाजवादी तत्व और समाजवादी देशों में बुर्जुआ तत्व (यह कहने के लिए तत्कालीन सोवियत संघ का नकली समाजवाद पर्याप्त तथ्य मुहैया कर रहा था जो अपने साररूप में राजकीय इजारेदार पूंजीवाद था) सशक्त होते जा रहे थे और पूंजीवादी और समाजवादी विश्व प्रणालियों के बीच आर्थिक, राजनीतिक तथा विचारधारात्मक अन्तर लगातार समतल होते जा रहे थे और भविष्य में पूर्ण विलोपीकरण की दिशा में उन्मुख थे। पूंजीवादी आधार पर दो विश्व प्रणालियों के संश्लेषण की बात करने वाली यह चिन्तनधारा वस्तुतः टीटो, ख्रुश्चेव आदि के संशोधनवादी विचारकों के वर्ग समन्वयवादी, शांतिपूर्ण सहअस्तित्ववादी और शांतिपूर्ण संक्रमणवादी विचारों की भी कर्जदार थी जो अनुदारपंथियों से लेकर निम्नपूंजीवादी रैडिकल बुद्धिजीवियों तक के बीच काफी लोकप्रिय थी। साठ के दशक के उत्तरार्द्ध में और सत्तर के दशक के प्रारंभिक वर्षों में विश्व रंगमंच पर घटने वाली वास्तविक घटनाओं ने इस सिद्धान्त को स्वयं ही गलत सिद्ध करते हुए इसे इतिहास के पुराने वैचारिक कबाड़ रखे जाने वाले तहखाने में पहुंचा दिया।

साठ के दशक के अंत से लेकर सत्तर के पूरे दशक भर पूंजीवादी समाज के गहराते संकट और अंधकारमय भविष्य को लेकर बेहद चिन्तित पश्चिम के बुद्धिजीवियों से लेकर तीसरी दुनिया के देशों तक के सामाजिक जनवादियों, बुर्जुआ सुधारवादियों और निम्न पूंजीवादी रैडिकल बुद्धिजीवियों के बीच 'क्लब ऑफ रोम' के बुद्धिजीवियों का बुर्जुआ मानवतावादी चिन्तन और "पूरे संसार और मनुष्य जाति के संकटों" से निजात पाने के युटोपियाई कार्यक्रम काफी लोकप्रिय रहे थे।

'क्लब आफ रोम' का गठन 1968 में इटली के अर्थशास्त्री, सार्वजनिक नेता और व्यापारी **ए. पेच्चेई** की पहल पर हुआ जिसमें बहुतेरे देशों के बुद्धिजीवी, वैज्ञानिक और सार्वजनिक नेता शामिल हुए। 'क्लब आफ रोम' के बुद्धिजीवियों की मूल चिन्ताएं वास्तव में पूंजीवादी सभ्यता के आत्मविनाशकारी चरित्र, पूंजीवादी आर्थिक विकास की जाहिर होती जा रही सीमाओं और गहराते असमाधेय संकट, हथियारों की होड़ और तापनाभिकीय युद्ध के खतरे के रूप में साम्राज्यवाद की उजागर होती आत्मघाती प्रवृत्ति तथा मुनाफे की अंधी हवस के हाथों पर्यावरण की तबाही से पैदा हुई थी। संस्था के घोषित आधारभूत उद्देश्य थे - अपने समय की भूमण्डलीय समस्याओं का अध्ययन करना, मानव जाति के विकास की कठिनाइयों को समझना तथा जनमत को प्रभावित करना। इसके लिए यह संस्था अनेकों शोध परियोजनाओं को क्रियान्वित करने के साथ ही परिगोष्ठियों-संगोष्ठियों तथा राजनीतिक नेताओं एवं व्यापारियों के साथ वार्षिक बैठकों का आयोजन करती थी।

संसार में मनुष्य के अस्तित्व, मानव-मूल्यों, मानव जाति के विकास के परिप्रेक्ष्यों के ठोस वैज्ञानिक व्यापकीकरण करने तथा सामान्य दार्शनिक तर्कणा का व्यापक दायरा निर्मित करने का दावा करते हुए 'क्लब ऑफ रोम' पूंजीवादी सभ्यता की नकारात्मक प्रवृत्तियों की आलोचना करता था, इसकी विनाशकारी गतिविधियों पर अंकुश की मांग करता था और यह उम्मीद करता था कि समस्त विश्व के जनगण अपने प्रयासों को ऐक्यबद्ध करके पर्यावरण की तबाही और विनाशकारी नाभिकीय युद्धों को रोकने, लोगों की सुख-समृद्धि बढ़ाने तथा "जीवन की गुणवत्ता" सुधारने के ऐतिहासिक दायित्वों को पूरा करेंगे। 'क्लब आफ रोम' का जीवन दर्शन और इतिहास दर्शन वैज्ञानिक तर्कणा और समाज विकास के आम नियमों को स्वीकारते हुए भी पूंजीवादी उत्पादन तंत्र और उसके समस्त अधिरचनात्मक तंत्र के बुनियादी तर्कों को देख नहीं पा रहा था। ये पश्चिम की भयाक्रांत और व्यथित आत्माएं थीं जो पूंजीवाद के पापों के लिए प्रायश्चित की प्रार्थना कर रही थी, और तॉलस्ताय का चोंगा पहनकर, जो कि अब तार-तार हो चुका था, पूरी दुनिया की मुक्ति के लिए नये प्रभु यीशु - विज्ञान मसीह से प्रार्थना करते हुए वस्तुतः अपनी मृत्युभयग्रस्तता से मुक्ति चाहती थीं। ये वे "शान्तिवादी" कूपमण्डूक निम्नपूंजीवादी आत्माएं थीं जो साम्राज्यवादी युद्धों से हो रहे विनाश, पूंजीवादी समाज के आत्मिक भौतिक संकट और बढ़ते कलह-विग्रह से, उनसे निजात पाने में अपनी निरुपायता से त्रस्त थीं, पर साथ ही, वर्गयुद्धों एवं सामाजिक क्रान्तियों से भी भयभीत थीं और समाजवाद के प्रति भी गहरा अविश्वास, भय और बेगानापन का भाव महसूस करती थीं। 'क्लब ऑफ रोम' के बुद्धिजीवियों ने ताल्स्ताय का चोंगा, रस्किन की टोपी और थोरो का जूता पहनकर संसार और मनुष्य के मानवीकरण के यूटोपियाई कार्यक्रम तथा बिना किसी राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक क्रान्ति के बुर्जुआ समाज के आत्मिक नवीकरण (पुनरुत्थान) की सिफारिशें पेश की। वैज्ञानिक समाजवादी इतिहास-दृष्टि की नियमसंगति के समान्तर, उन्नीसवीं सदी के पाजिटिविस्टों (प्रत्यक्षवादियों) से भी अधिक स्थूल एवं भोंडे ढंग से उन्होंने विशिष्ट प्रेक्षणों से निगमित निष्कर्षों को वैज्ञानिक व सामाजिक विकास के आम नियमों के रूप में प्रस्तुत किया और यह सिद्ध करने की कोशिश की कि साम्राज्यवादी तंत्र को तबाह किये बिना उसका मानवीय रूपान्तरण

रैण्ड कारपोरेशन के थिंक टैंक और घोषित मार्क्सवाद विरोधी विचारक फ्रांसिस फुकोयामा से लेकर "मार्क्स का कर्ज" स्वीकार करने वाले जॉक दरिदा, मिशेल फूको और ल्योतार आदि किसिम-किसिम के उत्तर आधुनिकतावादी, उत्तर संरचनावादी और "उत्तर मार्क्सवादी" आज इतिहास विकास की व्याख्या करते हुए ऐसे दार्शनिक सामान्यीकरण प्रस्तुत कर रहे हैं जो प्रतीतिगत तर्कपरकता के बावजूद सारतः नियमसंगति या प्रगति की संकल्पनाओं का ही विरोध करते हैं और सबसे बढ़कर यह कि ये सभी दार्शनिक, इतिहासज्ञ और समाजशास्त्री इतिहास-निर्माण में सामाजिक शक्तियों की भूमिका का निरूपण तो दूर, उसकी चर्चा ही नहीं करते।

कुछ सुनिश्चित नियमों के अनुसार संभव है।

'क्लब आफ रोम' का यूटोपिया साम्राज्यवादी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रचित यूटोपिया था जिसमें अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी के औदात्य, शौर्य और स्वप्नदर्शिता की जगह तुच्छता, आत्मकातरता, मृत्युभयग्रस्तता और आत्मभर्त्सना का स्वर हावी था। वर्तमान पूंजीवादी समाज की प्रक्रियाओं-व्याघातों को नकारकर, उसकी वर्गीय संरचना को नकारकर 'क्लब आफ रोम' उसके संकट को समस्त मानव जाति के संकट के रूप में देखता था। उसका चिन्तन संकटग्रस्त विश्व पूंजीवाद और उसके शीर्ष पर आसीन पश्चिम की आत्मालोचना एवं पापस्वीकृति भी था और साथ ही पूंजीवाद के विरुद्ध संघर्षरत सर्वहारा वर्ग के विरुद्ध एक विचारधारात्मक कार्रवाई भी।

'क्लब ऑफ रोम' के बुर्जुआ सुधारवादी बुद्धिजीवी जिस समय साम्राज्यवाद के पापों को पूरी मानव जाति की त्रासदी और उसके संकटों को पूरी मानवजाति का संकट बताते हुए यह खेद व्यक्त कर रहे थे कि बिना वर्ग-संघर्ष या क्रांति के विश्व पूंजीवाद का मानवीय रूपान्तरण संभव है, ठीक उसी समय **रोस्तोव, बेल, काहन, गालब्रेथ, जुवेनेल, आरों** आदि अपने **"भविष्य-विज्ञान"** (फ्यूचरोलॉजी) द्वारा यह सिद्ध करने की कोशिश कर रहे थे कि विज्ञान-तकनोलॉजी के विकास के लिए औद्योगिक समाज उत्तर-औद्योगिक समाज की मंजिल में प्रविष्ट हो जायेगा। प्रकारान्तर से यह कि पूंजीवाद के मृत्युभय का संताप निरर्थक है। और इसी के ठीक बाद विख्यात इतिहासकार **माइकेल ग्राण्ट** अपनी पुस्तक **'द फॉल ऑफ रोमन एंपायर'** में पश्चिमी समाज के पतन के भय-आशंका के काले-सफेद भूत आंक रहे थे और आगाह करने की कोशिश कर रहे थे।

माइकेल ग्राण्ट की उक्त चर्चित पुस्तक की चर्चा के पूर्व पुनः पीछे लौटकर रोस्तोव आदि के सिद्धान्त के कुछ प्रमुख तत्वों की हम चर्चा करेंगे ताकि यह देखा जा सके कि इस के दशक के उत्तरार्द्ध में एक ओर रोस्तोव, बेल, काहन, आरों आदि और दूसरी ओर इतिहासकार माइकेल ग्राण्ट पूंजीवाद के वास्तविक संकट को किस प्रकार देख रहे थे और अलग-अलग नुस्खे सुझा रहे थे।

हां, इसके पूर्व भी याद दिला देना प्रासंगिक ही होगा कि 'भविष्य-विज्ञान' (फ्यूचरोलॉजी) पद का अविष्कार 1922 में जर्मन समाजशास्त्री **ओ. फ्लेख्टहेइम** ने किया था जिसका आशय विचारधारा तथा यूटोपिया के समान्तर खड़ा किया गया "भविष्य" का वर्गोपरि "दर्शन" था। सातवें दशक के अंत में भविष्य विज्ञान के स्थान पर **"भविष्य का अनुसंधान"** पद प्रचलित हुआ जिसकी परिधि में पूर्वानुमान का सिद्धान्त भी आ जाता है।

रोस्तोव की ही तरह **"उत्तर-औद्योगिक समाज"** के सिद्धान्त के सभी पैरोकारों का - सभी "भविष्य विद्याविदों" का मानना था कि प्रत्येक समाज का विकास औद्योगिक-तकनीकी-वैज्ञानिक विकास के स्तर से निर्धारित होता है, जिसकी अभिव्यक्ति सकल राष्ट्रीय उत्पाद के रूप में होती है। सामाजिक व्यवस्थाओं की भिन्नता के बावजूद निम्न सकल राष्ट्रीय उत्पाद वाले एशिया, अफ्रीका, लातिनी अमेरिका के सभी देशों को उन्होंने "प्राक्-औद्योगिक समाज" की भिन्न-भिन्न मंजिलों से गुजरते हुए बताया। "उत्तर-औद्योगिक समाज" को उन्होंने उपरोक्त दो ऐतिहासिक प्रवर्गों से गुणात्मक रूप से भिन्न एक भविष्य की परिघटना बताया और यह भविष्यवाणी की कि बीसवीं सदी के अन्त और इक्कीसवीं सदी के आरम्भ में पश्चिम का "औद्योगिक समाज" "उत्तर-औद्योगिक समाज" की मंजिल में संक्रमण कर जायेगा। कुछ बुर्जुआ सिद्धान्तकारों ने सत्तर के दशक के अंत में और सत्तर के दशक में यह दावा करना शुरू भी कर दिया था कि अमेरिका और कुछ अन्य अतिविकसित पश्चिमी देश "उत्तर-औद्योगिक समाज" की मंजिल में प्रवेश करने लग गये है। बहुत संक्षेप में, "उत्तर-औद्योगिक समाज के सिद्धान्त" के प्रवर्तकों के अनुसार समाज-विकास की इस मंजिल की प्रमुख अभिलाक्षणिकताएं है : समस्त कार्यरत आबादी के नब्बे प्रतिशत से भी अधिक हिस्से का सेवा-उद्योग और आत्मिक सृजन के विभिन्न क्षेत्रों में काम करना; औद्योगिक उत्पादन में लगी आबादी का घटकर कुल आबादी के दस प्रतिशत से भी कम और कृषि उत्पादन में लगी आबादी का घटकर एक प्रतिशत या उससे भी कम हो जाना; ऊंचे, मंझोले, और निचले हुनर वाले तथा शिक्षा के तदनुरूपी स्तरों वाले कामगारों के बीच भी उपरोक्त समानुपातिक स्थिति कायम हो जाना; सालाना कार्य-अवधि में काफी कमी हो जाना; कारगर जन्म नियंत्रण और जनसंख्या-वृद्धि दर शून्य प्रतिशत पर पहुंच जाना, अर्थव्यवस्था तथा संस्कृति का "जीवन की गुणवत्ता" सुधारने में यानी मुख्यतया सांस्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति, पारिस्थितिक असंतुलन समाप्त करने तथा पर्यावरण-प्रदूषण रोकने आदि कार्यों में लगाना.....आदि-आदि।

पश्चिमी समाज के गहराते आर्थिक-राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक-नैतिक संकटों के जिस दौर में, उत्तर औद्योगिक समाज में संक्रमण का यह सपना परोसा जा रहा था, ठीक उसी दौरान, या उसके कुछ वर्षों बाद, सत्तर के दशक के अंत में एडिनबरा विश्वविद्यालय के भूतपूर्व प्रोफेसर, इतिहासकार माइकेल ग्राण्ट की पुस्तक 'द फॉल ऑफ रोमन एंपायर' प्रकाश में आई जिसमें रोमन साम्राज्य के पतन के कारणों पर पुनर्विचार से भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह थी कि रोमन साम्राज्य के अंतिम चरण की तुलना सत्तर के दशक के पश्चिमी समाज से करते हुए उसके पतन-विघटन की दुश्चिंता प्रकट की गई थी।

ग्राण्ट के अनुसार, "डेढ़ हजार वर्ष पूर्व जिन कारणों से रोमन साम्राज्य का अंत हुआ वे प्रवृत्तियां एवं अन्तरविरोध अब भी वर्तमान पश्चिमी समाज में भी दिखाई देने लगे है जो कि एक चिंता की बात है।" ग्राण्ट की यह चिन्ता पश्चिमी समाज के लिए इतनी भयोत्पादक थी कि उक्त पुस्तक की भूमिका में इतिहासकार **गोलोमान** ने यह दिलासा देने की कोशिश की कि, "इन प्रवृत्तियों ओर अन्तरविरोधों के प्रति अभी से सचेत होने पर हमें उस मार्ग पर जाने की आवश्यकता नहीं है जिस पर कि रोमन साम्राज्य गया है।"

आर्थिक साधन और अस्त्रीकरण, वायुपूरित (फूली हुई) नौकरशाही और उसकी बढ़ती असीमित शक्ति, विभिन्न सामाजिक वर्गों के बीच गहराते अन्तरविरोध, पश्चिमी यूरोप और अमेरिका (यहां ग्राण्ट ने रोमन साम्राज्य के पश्चिमी भाग ओर वैभवशाली पूर्वी भाग की तुलना क्रमशः पश्चिमी यूरोप और अमेरिका से की है जिनके बीच गहराता अन्तरविरोध भी रोमन साम्राज्य के पतन का एक कारण बना था) का सैनिक गठबंधन (नाटो) और उसके भीतर के बढ़ते अन्तरविरोध, प्रतिष्ठान (सामाजिक) और उससे अलग होकर वैकल्पिक जीवन शैली खोजने वालों की बढ़ती संख्या (जैसा कि रोमन साम्राज्य में नागरिकों ने ईसाई धर्म धारण करके किया था), व्यावसायिक जीवन के गतिशील परिवर्तन और कर्म, जीवन के प्रति लगातार घटती आस्था - तत्कालीन पश्चिमी समाज के इन छः समस्यावृत्तों को रेखांकित करते हुए ग्राण्ट ने यह स्थापना रखी कि रोमन साम्राज्य के पतन में भी इन्हें लक्षित किया जा सकता है।

ग्राण्ट ने यह चिन्ता प्रकट थी कि जिन अनेकश: अन्तरविरोधों ने विशाल रोमन साम्राज्य को पतन के गर्त में पहुंचा दिया, उसी तरह आधुनिक पश्चिमी दुनिया का भी पतन हो सकता है। रोमनों ने संकट को पहचान तो लिया था, पर वे सोचने-समझने के पुराने तरीकों से अपने को मुक्त नहीं कर सके थे और रोमन राजनीतिक तंत्र और सामाजिक ढांचे में आवश्यक बदलाव लाने के प्रति उनकी उदासीनता व्यापक थी। ग्राण्ट के ही शब्दों में, "घटनाओं के प्रति - विशेषतया उद्योग एवं आर्थिक जगत की घटनाओं के प्रति - हमारी प्रतिक्रिया भी आज एक न समझ में आने वाली प्रतिक्रिया है। हम समझते हैं कि हर नया संकट पुराने संकट की तरह ही है और उसका पुराने तरीके से ही हल हो सकता है। उदासीनता की यह मन:स्थिति, जैसा कि रोमन साम्राज्य के पतन की कहानी बताती है, आधुनिक पश्चिमी सभ्यता के लिए घातक सिद्ध हो सकता है।"

स्पष्ट है कि माइकल ग्राण्ट का भय स्पेंगलर की निराशा से अधिक गहरा था। वे पश्चिमी पूंजीवादी समाज के संकट के वास्तविक कारणों को देख पाने के बजाय प्रतीतिगत यथार्थ के विविध पहलुओं को निरुपाय-ब्रमम निगाहों से देख रहे थे और आतंकित थे। यह गहन नैराश्यबोध, अनास्था, सतही अनुभववादी इतिहास दृष्टि पूंजीवादी इतिहास दर्शन की मृत्यु की दिशा में यात्रा के नये मुकाम का सूचक थी। आगे चलकर, तकरीबन एक दशक बाद फ्रांसिस फुकोयामा ने जब 'इतिहास के अन्त' की घोषणा की तो वह वास्तव में पूंजीवादी इतिहास दर्शन की मृत्यु की घोषणा थी, और कुछ भी नहीं।

यहीं पर, यह उचित रहेगा कि माइकल ग्राण्ट के भय की वास्तविक ज़मीन पर भी एक नजर डाल ली जाये। सभी साम्राज्यवादी देश 1972-75 की मंदी के धक्के से लड़खड़ाने के बाद कुछ बेहतर महसूस ही कर रहे थे कि तब तक 1979 से शुरू होने वाली दूसरी मंदी ने इसे धर दबोचा! युद्धोत्तर वर्षों की राहत के बाद पूंजीवाद की लाइलाज बीमारी और ज्यादा भीषण रूप में लौट आई थी। सामाजिक साम्राज्यवादी सोवियत संघ और अमेरिका - इन दो अतिमहाशक्तियों के बीच विश्व-प्रभुत्व के लिए जारी प्रतिस्पर्द्धा युद्ध के रूप में यदि फूट पड़ी तो यह सर्वाधिक विनाशकारी पश्चिमी यूरोप के लिए होगी, यह चिन्ता पश्चिमी यूरोप के शासकों और बुद्धिजीवियों की नींद हराम किये हुए थी और युद्ध विरोधी, शान्तिवादी आन्दोलनों की वहां बाढ़ आ गई थी। अमेरिका और पश्चिमी यूरोप के साम्राज्यवादी देशों के आपसी अन्तरविरोध भी गहराने लगे थे। यूरोपीय आर्थिक समुदाय और जापान दुनिया के अखाड़े में अमेरिकी पूंजी को चुनौती देना शुरू कर चुके थे।

गिनी बिसाऊ (1972), अंगोला (1975), मोजाम्बिक (1975) की स्वतंत्रता प्राप्ति, समूचे हिन्दचीन के देशों की मुक्ति (1975), ईरानी क्रान्ति (1979) और निकारागुआ की सान्दिनिस्ता क्रान्ति (1979) तथा जिम्बाब्वे के मुक्ति संघर्ष (1980) की विजय के बाद महाबली अमेरिका के ऐन पिछवाड़े लातिनी और मध्य अमेरिकी देशों में आग लग चुकी थी तथा नामीबिया, दक्षिण अफ्रीका और मध्यपूर्व से लेकर फिलिप्पीन्स तक में आम जनता के सशस्त्र मुक्ति संघर्ष उग्र हो उठे थे। आगे बढ़ते इतिहास के अभियान ने विश्व स्तर पर नवऔपनिवेशिक व्यवस्था को पुरानी औपनिवेशिक व्यवस्था की जगह लेने के तुरंत बाद ही ढहाना शुरू कर दिया था। धीरे-धीरे ऐसी परिस्थितियां निर्मित हो रही थी कि पश्चिम के देश मुख्यत: अपनी अत्यधिक विकसित उत्पादक शक्तियों के आधार पर ही तीसरी दुनिया के देशों का शोषण कर सकते थे। राजनीतिक दबाव का तत्व तो था, पर प्रत्यक्ष-परोक्ष राजनीतिक प्रभुत्व के रूप में नहीं। तीसरी दुनिया के नवस्वाधीन देशों के शासक पूंजीपति अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतियोगिता का लाभ उठाकर और तरह-तरह के क्षेत्रीय, अन्तरराष्ट्रीय मंच बनाकर साम्राज्यवादी देशों से अधिक राजनीतिक आजादी व आर्थिक सम्प्रभुता लेते जा रहे थे। साथ ही, अपनी ऐतिहासिक चारित्रिक विशिष्टता के नाते वे विश्व पूंजीवादी तंत्र में मुनाफे के माल के हिस्सेदार जूनियर पार्टनर की स्थिति में ज्यादा से ज्यादा व्यवस्थित भी होते जा रहे थे तथा क्रमश: उदारीकरण की नीतियां लागू करने की दिशा में आगे बढ़ते हुए अपने देशी बाजारों को साम्राज्यवादी पूंजी के लिए ज्यादा से ज्यादा खोलते जा रहे थे। आर्थिक नवउपनिवेशवाद के नये साम्राज्यवादी चरण की पूर्वपीठिका तैयार होने लगी थी।

पर यह दौर पश्चिम के लिए खुशी का संदेश लेकर नहीं आ रहा था। विश्व बाजार के सुदूर क्षेत्रों तक विस्तार के बावजूद पूंजी की प्रचुरता का अजीर्ण रोग दूर नहीं हो रहा था। मंदी के लौट-लौट आने की आवर्तिता कम होती जा रही थी। बेरोजगारी बढ़ती जा रही थी और जन-असंतोष भी। आर्थिक संकट सामाजिक तनाव और विस्फोटों को जन्म दे रहा था। यही नहीं, वैचारिक बंजरपन, नैतिक रुग्णता और दार्शनिक दिवालियापन भी संकेत दे रहे थे कि समृद्धि के शिखर पर बैठा पश्चिमी पूंजीवादी समाज अब ढलान पर लुढ़कने के भयावह स्वप्नों से पीड़ित था। समृद्धि, भोग-विलास और शक्तिमत्ता के शिखर पर बैठे रोम अपनी मृत्यु का उतना स्पष्ट पूर्वानुमान नहीं लगा सका था, जिस हद तक "पूंजीवाद का नया स्वर्ग" - पश्चिमी समाज लगा रहा था। यही उसकी मारक त्रासदी थी।

(क्रमशः)

*यह लम्बा लेख **'आह्वान'** पाक्षिक में **'अन्तर्दृष्टि'** स्तम्भ के तहत धारावाहिक रूप से प्रकाशित हो रहा है। अब तक प्रकाशित सात किश्तों को हमने यहां साभार प्रकाशित किया है। लेख का शेष भाग 'दायित्वबोध' के अगले अंक में प्रकाशित होगा। इस भाग में **एल्विन टॉफ्लर, फ्रांसिस फुकोयामा तथा उत्तर संरचनावाद, उत्तर आधुनिकता और उत्तर मार्क्सवाद का इतिहास-दर्शन और इतिहास-दृष्टि** पर चर्चा की जाएगी। -सम्पादक*

●

जो सही अर्थों में युवा हैं,
जिनके दिलों में अपने लोगों के लिए प्यार है
और ज़ोरो-ज़ुल्म के खिलाफ़ बग़ावत की आग,
जो सपने देख सकते हैं और लड़ सकते हैं,
जो कहते हैं 'शहीद भगतसिंह का रास्ता हमारा रास्ता'
जनता के उन बहादुर सपूतों का अपना अखबार है

आह्वान कैम्पस टाइम्स

पांच वर्षों से प्रकाशित हो रहा क्रान्तिकारी पाक्षिक पत्र
सम्पादकीय कार्यालय: कल्याणपुर, गोरखपुर -273001

जलते कुरेदते प्रश्न

आत्महत्या का सामाजिक मनोविज्ञान

राणा प्रताप

कोई गोरख पाण्डेय, कोई कुमार संभव, कोई मनीष राय, यों आत्महत्या के पथ पर क्यों चल देते हैं? और हम सिर्फ इतना भर कह पाते हैं कि दुखी हैं, शर्मिन्दा हैं हताश हैं।

इस 'क्यों' का जवाब तलाशने की कोशिश किसी भी मंच संगटन या सांस्कृतिक संघ की ओर से नहीं हुई। पेशेवर पत्रकारों और अखबारों से यह उम्मीद नहीं की जा सकती। मगर सार्थक मुहिम से जुड़ी साहित्यिक पत्रिकाओं के बीच भयानक चुप्पी देखकर आश्चर्य होता है।

भारत के इतिहास में ऐसा कोई समय नहीं रहा, न ही सामाजिक रूप से संकटपूर्ण स्थिति, जिसमें लेखक, बुद्धिजीवी और वैज्ञानिक इस तरह आत्महत्या की तरफ मुड़ें हों। वर्तमान समय में ऐसा हो रहा है तो निश्चय ही इसके ठोस कारण होंगे।

दमन, उत्पीड़न और हत्या का सिलसिला तो बहुत पुराना है। जेल, प्रताड़ना और ठंडी मौत, यह भी कोई नयी चीज नहीं है। किन्तु यह आत्महत्या! किस सामाजिक मनोविज्ञान की देन है?

प्रत्येक सचेत और संवेदनशील पीढ़ी अपने समय की समस्याओं से जूझती है। मुख्य अंतरविरोधों की पहचान करती है, समय की विशेषताओं को चिह्नित करती है और अपने होने के सार्थक कारणों को ढूंढती है। देकार्त ने ठीक ही कहा है - 'मैं सोचता हूं, इसीलिए मैं हूं।'

लेखक, बुद्धिजीवी, समाजशास्त्री और राजनीतिक चिंतक उन कारणों को ढूंढने व मुख्य समस्याओं को परिभाषित करने और चुनौतियों को चिह्नित करने में अग्रणी भूमिका निभाते हैं। स्वतंत्र चिंतन और निजता की भूमिका की पहचान भी यहीं से प्रारंभ होती है।

गहरी संवेदना और संज्ञान की वजह से यह तबका कला और विचार के अपने क्षेत्र से घनिष्ट रूप से जुड़ा होता है। अतः जब उनके अपने क्षेत्र में किसी वजह से तोड़फोड़ शुरू होती है या अनधिकृत रूप से कोई उनके क्षेत्र में घुसकर बाधा पहुंचाने की कोशिश करता है तो उन्हें आंतरिक पीड़ा होती है और वे बेचैन हो उठते हैं।

चूंकि सृजन और चिंतन का उनका अपना क्षेत्र है, इसलिए उस क्षेत्र में घुसपैठियों को वे बर्दाश्त नहीं कर पाते। पहले तो वे उनके विरुद्ध वैचारिक संघर्ष में उतरते हैं, जी-जान से मुकाबला करते हैं, किन्तु तब उनका संघर्ष अकेला और वैयक्तिक हो जाता है। यहीं से वे भीषण त्रासदीदायक चिंतन के अलगाव में चले जाते हैं। ऐसी अवस्था में हताशा और पस्ती उन्हें घेर लेती है। फिर उन्हें अपना अस्तित्व ही निरर्थक-सा लगने लगता है और वे सहज ही आत्महत्या की तरफ मुड़ जाते हैं।

सवाल है कि अपनी सार्थक भूमिका की तलाश में संलग्न, वर्तमान चुनौतियों का सामना करते हुए ये लोग निरर्थकता के अहसास तक कैसे जा पहुंचते हैं? क्या इसकी वजह उनकी घनीभूत संवेदना है, स्वतंत्र चिंतन की प्रक्रिया है या निरंतर गहराते सामाजिक द्वंद्व।

आइये, हम इसकी जांच-पड़ताल करें और अपने लिए एक सार्थक भूमिका की तलाश भी। क्योंकि इतिहास बड़ा बेरहम होता है। तटस्थता के लिए कभी माफी नहीं देता।

गोरख पाण्डेय ने 'सुख के बारे में' विचार करते हुए लिखा है - "हां, दुख ज्यादा कृपालु रहा है। वह एक काली और भारी चट्टान की तरह है, जो आता है तो फिर टस से मस नहीं होता है। वजूद के पोर-पोर से खून बहने लगता है, मन चीख से भर उठता है, तिनके का सहारा भी मुश्किल हो जाता है और लगता है कि अब जहाज डूब रहा है। कभी जीविका की तलाश में भटक रहे हैं तो भटकते चले जा रहे हैं। तलाश पूरी नहीं होती है, इस बीच भूख लगती है और अपमान की जलती सलाखों से दाग दी जाती है। अभी यह सब चल ही रहा था कि हमारे जीवन की बेहतरी के लिए जो लोग लड़ रहे हैं और हम जिन्हें अपनी उम्मीद समझते है, वे आपस में लड़ने लगे हैं। (हालांकि उनका लड़ना भी बेमकसद नहीं होता। इसके अलावा एकता की शक्तियां भी काम कर रही हैं फिर भी बिखराव है और दुखद है।) इस तरह एक के बाद एक काली और भारी चट्टान की तरह दुख आता है और जब छाती पर बैठ जाता है तो टस से मस नहीं होता।"

दुख आता है और कलेजे पर बैठ जाता है। टस से मस नहीं होता। फिर जिन्हें हम उम्मीद समझते रहे वे ही आपस में लड़ने लगे, टूट-फूट और बिखराव का शिकार होने लगे। बाहर जो विचार के क्षेत्र में तोड़-फोड़ की घटनाएं हो रही थीं, वह तो जारी ही थी। इससे सुख का सपना कितना प्रभावित हुआ और विजन कितना क्षतिग्रस्त, विस्तार से बताने की चीज नहीं। इसे सभी लोग गहराई से महसूस कर रहे हैं।

गोरख पाण्डेय की आत्महत्या के पीछे छुपे रहस्य को आज मैं बेहतर तरीके से देख और समझ पा रहा हूं। यह सच है कि गोरख एक लंबे समय से पैरानायड शीज़ोफ्रेनिया के

शिकार थे। पैरानायड से भय की सृष्टि होती है और व्यक्ति अपने अस्तित्व को लेकर दिन-रात परेशान रहता है। असुरक्षा की भावना उसे हमेशा भय के सागर की ओर ढकेलती रहती है। शीज़ोफ्रेनिया व्यक्ति को एक ऐसी यूटोपिया की दुनिया में ले जाता है जहां सामान्य लोगों के लिए पहुंचना बहुत मुश्किल है। गोरख इन दोनों ही तरह के रोग से ग्रसित था। यूटोपिया की दुनिया की एक फैंटेसी देखिये, जो गोरख के दिमाग में आयुर्विज्ञान संस्थान जाने के पूर्व उपजी थी। फैंटेसी के अनुसार अंतरराष्ट्रीय स्तर पर एक 'रेप आरगेनाइजेशन' चलाया जा रहा था। रीगन उसके अध्यक्ष थे। दिल्ली के ढेर सारे साहित्यकार उस रेप आरगेनाइजेशन से जुड़े थे। उनमें से कोई अध्यक्ष, कोई सचिव और कोई एजेंट था। मैंने गौर किया, इनमें उन्हीं लोगों के नाम थे जिनसे गोरख की कभी तकरार हुई थी या किसी बात को लेकर झड़प हुई थी। कमाल की बात देखिये, इसके भी बरक्स उसने महिलाओं के एक संगठन की कल्पना कर ली थी। उस महिला संगठन की अध्यक्षा थी श्रीमती इंदिरा गांधी जो मरी नहीं थी बल्कि अंडरग्राउण्ड हो गयी थी। उस महिला संगठन के द्वारा 'रेप आरगेनाइजेशन' से जुड़े तमाम लोगों की पहचान हो गयी थी और शीघ्र ही उन लोगों को ''हैंग'' किया जाने वाला था। खुद गोरख ने सुरक्षात्मक दृष्टि से अपने को महिला संगठन से जोड़ रखा था।

किन्तु इस बीमारी को बढ़ाने में जिन कारक तत्वों का हाथ रहा, उनमें सत्ता-व्यवस्था की अतियां चाहे जितनी रही हों, उनमें पहले दर्जे पर उम्मीदों की कंदीलें ही हैं जो उसी का हाथ जलाने लगी थी, हालांकि उसने अपना हाथ खींच लिया था। किन्तु तब तक जलन का दर्द पूरी तरह आत्मा के भीतर उतर चुका था। उसे बर्दाश्त कर पाना मुश्किल था। फलतः विक्षिप्तावस्था, आयुर्विज्ञान संस्थान और बिजली का शॉक। डाक्टरों ने डिस्चार्ज करते वक्त बतलाया था, ऐसे रोगियों में आत्महत्या की खतरनाक प्रवृत्ति उभर आती है और वे किसी समय आत्महत्या कर सकते हैं। बावजूद इसके हम उसके दिमाग में चल रहे आत्महत्या के मनोविज्ञान को समझ न सके। बल्कि खुश हुए कि चलो उसने अपने विवाह के लिए पिता को पत्र लिखा है।

कहने को कोई बड़ी आसानी से कह सकता है कि क्रान्तिकारी रोमांस का नशा उतरने पर यही सब होता है, लेकिन ऐसा कहना एक प्रकार का सरलीकरण होगा। 'रामसजीवन की प्रेम कथा' इसी सरलीकरण का शिकार हुयी थी। किन्तु तालियां पीटने वाले लोग तब कम नहीं थे। राजेन्द्र यादव ने तो इस कहानी को 'हंस' में प्रिंट ही किया था। इसे आप क्या कहेंगे? अपने समय की विडम्बना ही तो है।

एक तरफ क्रान्ति के मोर्चे पर भारी नुकसान की खबर सुनकर संवेदनशील इंसान डिप्रेशन में चले जाते हैं और दूसरी तरफ क्रान्ति की जुगाली करने वाले बुद्धिजीवी हंसी उड़ाते हैं। सब कुछ को अतिवाद के हवाले कर बात को हवा में उड़ा देते हैं। संवेदना की सौदागरी करने वाले ऐसे लोगों को आप क्या कहेंगे?

कुनई में दो क्रान्तिकारियों की हत्या हुई थी। खबर सुनकर असम के दफ्तर में कार्यरत एक कार्यकर्ता पागल हो गया। दफ्तर के साथियों ने उसे किसी प्रकार गांव पहुंचाया। महीनों इलाज के बाद वह दफ्तर जाने लायक हो सका। वह एक सामान्य कार्यकर्ता था, बुद्धिजीवी नहीं। इसी तरह एक कालेज में कार्यरत बुद्धिजीवी रामवचन सिंह एक दिन रेलवे लाइन के किनारे मृत पाये गये। वे लंबे समय से डिप्रेशन में जी रहे थे। इसी तरह झारखंड क्षेत्र के जुझारू क्रान्तिकारी नेता मानकुंवर बेदिया ने अचानक एक दिन आत्महत्या कर ली। लोगों ने बताया, पारिवारिक टेंशन था। क्या इन पेचीदगियों को आसानी से समझा जा सकता है?

उम्मीदों की कंदील का बुझना या बुझा देना कितना खतरनाक होता है, कोई पाश से पूछे-

''मेहनत की लूट
सबसे खतरनाक नहीं होती
पुलिस की मार
सबसे खतरनाक नहीं होती
गद्दारी-लोभ की मुट्ठी
सबसे खतरनाक नहीं होती
....
सबसे खतरनाक होता है
मुर्दा शान्ति से भर जाना
न होना तड़प का सब सहन कर जाना
घर से निकलना काम पर
और काम से लौट कर घर जाना
सबसे खतरनाक होता है
हमारे सपनों का मर जाना''

सपनों के बाबत अब और इससे ज्यादा कुछ नहीं। इसके समान्तर जो आत्महत्या की परिस्थितियां उत्पन्न करता है, एक ऐसा जाल बुनता है जिसमें व्यक्ति इसके लिए स्वयं उलझकर रह जाता है और ऐसा लगता है कि व्यक्ति इसके लिए स्वयं जिम्मेदार है। कहने का मतलब यह कि आत्महत्या की ओर धकेलने वाली जो परिस्थितियां बनायी गयी हैं, उसके जनक कौन हैं?

कुछ दिनों पहले दरभंगा जिले में पोस्टेड एक डाक्टर ने आत्महत्या कर ली। डाक्टर का पिता रांची में बीमार था। मानसिक रोग का इलाज चल रहा था। इसलिए वह अपना ट्रांसफर करवा कर रांची जाना चाहता था। किंतु ट्रांसफर बिना घूस के नहीं हो पा रहा था। दौड़-धूप जारी थी। स्वास्थ्य विभाग के कर्मचारियों के द्वारा डाक्टर को अपमानित होना पड़ रहा था। डाक्टर मानसिक रूप से इतना तनावग्रस्त हुआ कि थक-हार कर एक दिन उसने आत्महत्या कर ली। आत्महत्या करने से पूर्व जो पत्र उन्होंने छोड़ा था, उस पर अंकित दो तिथियों को काटा गया था, तीसरी 'डेट' में उसने आत्महत्या की थी। पत्र में लिखा था- मेरे मरने के बाद मेरे शरीर का आधा मांस स्वास्थ्य मंत्री को भेंट किया जाये और आधे को विभाग के कर्मचारियों के बीच बांट दिया जाये।'

इस घटना को लेकर अखबारों में काफी हंगामा हुआ किन्तु थोड़े ही समय के बाद सब कुछ नॉर्मल हो गया। ब्यूरोक्रेसी का निर्मम खेल बदस्तूर जारी रहा। इस खतरनाक दिशा में कोई नया मोड़ नहीं आया।

इस संदर्भ में लू शुन की कहानी 'एक पागल की डायरी' और तपन सिन्हा की फिल्म 'एक डाक्टर की मौत' बरबस याद आती है। इधर हिन्दी में भी कुछ कहानियां आयी हैं, जैसे -'ब्लैक-मार्क', 'और अंत में प्रार्थना', 'आत्महत्या', 'असफल और असहाय' आदि। इन कहानियों से भी सूचना मिलती है कि नौकरशाही कितना निर्मम, अमानवीय और पतित हो गयी है। इंसानियत और संवेदना की चिनगी तक वहां मुहाल है। जलती हुई सलाखों से दाग दी जाने वाली स्थितियां यहां कितनी मुखर हैं।

दरअसल, आत्महत्या की ओर धकेलने वाली जो परिस्थितियां बनी हैं या बनायी गयी हैं, उसमें सत्ता-व्यवस्था का अतिवाद प्रमुख है। और यह सब आजादी के बाद की परिस्थितिजन्य विकृतियां हैं। इस ओर हमारे समाजशास्त्रियों का ध्यान जाना चाहिए। अन्यथा मनीष राय और कुमार संभव जैसे

लखक आत्महत्या की चपेट में आते रहेंगे और जस्टिस सहाय और हंसारिया की तरह कानूनी अड़चनों को झाड़-बुहार कर मुक्ति का सुलभ रास्ता दिखाया जाता रहेगा।

हत्या की राजनीति प्रशासन-तंत्र का एक हिस्सा रही है। इसका इतिहास बहुत लंबा है। 'कांग्रेस संस्कृति के चालीस वर्ष' शीर्षक आलेख में मैंने इसकी विस्तार से चर्चा की है। ताजा घटना सुमति अय्यर की है। यहां सिर्फ इतना बतला देना काफी होगा कि शासक वर्ग को वेदना की वाणी अथवा क्रान्ति का स्वर नहीं सुहाता। इसलिए उसने विधिवत् रूप से प्रताड़ना, जेल और गोली की व्यवस्था कर रखी है। वहां किसी भी प्रकार का कोई समझौता नहीं है। आप इधर हैं या उधर - निर्णायक बात यही होती है। ठंडी मौत या आत्महत्या की ओर धकेलने की साजिश इसी तंत्र का हिस्सा है।

आज राजनीति के अपराधीकरण पर बहुत चीख-पुकार मचायी जा रही है। क्या यह सच नहीं है कि यह भी राजनीतिक हत्या के तंत्र से ही जन्मा है? दरअसल हमारी आदत हो गयी है कि किसी घटना के घटित हो जाने पर तो बहुत चीख-पुकार मचाते हैं, सनसनीखेज रिपोर्ट बनाते हैं, उसे भी राजनीतिक हित में इस्तेमाल करते हैं। लेकिन घटना के तह में जाने से घबराते हैं, ठोस कारणों की तलाश से कतराते हैं, डरते हैं। आखिर यह कैसा आतंक या सेंसर है जिसके तहत यह सब हो रहा है?

यहां पर एक और विशेष बात की ओर संकेत करना चाहूंगा कि जो संवेदना के सौदागर हैं यानी लेखक, कवि, बुद्धिजीवी हैं, उनकी भी हालत कम दयनीय नहीं है। इस बात का अहसास मुझे उस दिन गहरे रूप में हुआ जब कात्यायनी पर हमले के मामले में एक प्रस्ताव पर महेश्वर से हस्ताक्षर लेने गया था। उसने बहुत ही दुखभरे लहजे में बताया कि लगभग दो वर्ष हो रहे हैं, किडनी बदलवाकर मद्रास से लौटे, किंतु आज तक पटना के एक भी साहित्यकार हाल-चाल भी पूछने नहीं आये। यह सुनकर मैं दंग था। सबसे अधिक मानवीय सरोकार की बात करने वाले लोगों की यह दशा!

सुरेन्द्र स्निग्ध ने शायद इन्हीं स्थितियों को भोगते हुए लिखा था -

'क्या रहना ऐसी जगह
जहां कोई दोस्त न हो
नहीं हो कोई
हालचाल पूछने वाला
ऐसी जगह क्या रहना
जहां दुख की घड़ियों में
कोई
प्यार से सर न सहला दे
नब्ज देखने के बहाने
गर्म कलाई अपने हाथ में न ले ले'।

निश्चय ही इस अमानवीयकरण का पहलू भी उसी तंत्र से जुड़ा है जो संपूर्ण समाज को एक भयानक अमानवीयकरण की ओर धकेल रहा है। प्रेम और भाईचारे की जगह झूठ और फरेब आकर बैठ गया है। छल, प्रपंच और तिकड़म केवल इसलिए कि हमारी भी थोड़ी हैसियत इस विगलित समाज में बन जाये। इसी हैसियत (स्टेटस) की भावना ने व्यक्ति को इतना नीचे गिराया है कि अब मर्सिया के शब्द भी झूठे लगने लगे हैं। हम तो नया इंसान बनाने के दावे लेकर आये थे। फिर यह सब क्या हो रहा है? ठहर कर सोचने का, क्या जरा भी वक्त नहीं है हमारे पास?

हत्या, आत्महत्या, राजनीति का अपराधीकरण और अपहरण - क्या यह सब आपस में जुड़े हुए मामले नहीं हैं? और इन सब का आविष्कार एक ही दिन में नहीं, बल्कि अत्याचारी तंत्र के सातत्य में हुआ है। क्रूरता और अमानवीयता की कहानी जो इतिहास में रची गयी थी, वही तो आज इस रूप में फल-फूल रहा है। कटा हुआ सिर और मृत शरीर के हिस्से को थाने में टांग कर रखने में उन्हें मजा आता है। ब्रजेश मोहन ठाकुर को कुट्टी-कुट्टी काट कर भूस्वामी गुंडे ने कोशी नदी में बहा दिया था और धमदाहा थाना के दरोगा ने उसकी एक टांग को हफ्ते भर तक थाने में लटकाये रखा। सवाल उठता है कि ऐसा क्यों किया गया? बात बहुत सीधी-सी है कि अत्याचार के उपकरण नानाविध रूप में आविष्कृत हुए हैं। इस उपकरण को स्वेच्छाचारी और धर्मकामी शासक-वृंदों ने और भी उन्नत किया है। इसी अत्याचार की सहायता से वे लोगों को भयभीत करते थे और अपना शासन चलाते थे। आधुनिक समाज में बर्बर रूपों के साथ अत्याचार के नये रूप भी आविष्कृत हुए हैं। सचमुच, निष्ठुर शिक्षा मनुष्य को निष्ठुरता के प्रति उदासीन कर देती है। आजकल प्रतिदिन सांस लेने और जल पीने की तरह हत्या सामान्य बात हो गयी है। मनुष्य को इस अवस्था के बीच जान-बूझकर रखा गया है कि उसकी चमड़ी गैंडे की तरह मोटी हो जाये और वह संवेदना से परे हो जाये। करुणा, दया और सहानुभूति को इसीलिए अब हमारे यहां पिछड़े समाज का मूल्य मान लिया गया है। नये मूल्य जो उभर रहे हैं, उनमें मानवीयता का पहलू गौण हो गया है। तंत्र, मंत्र और जंत्र का बोलबाला हो रहा है।

इन तमाम बातों का विश्लेषण और आधारभूत बिन्दुओं का निरूपण करना समाजशास्त्र का काम है। कोई दुर्खीम जैसा समाजशास्त्री ही इस काम के गुरुतर भार को अपने कंधे पर ले सकता है। क्योंकि हमारे यहां समाजशास्त्र आज तक इतिहास से अलग-थलग रहा है। उस पर इंगलैंड और अमरीका का सीधा प्रभाव रहा है। सैकड़ों वर्षों तक अंग्रेज भारत का शासक रहा और देश को गुलाम बनाये रखा। फलस्वरूप समाजशास्त्र, इतिहास, कला और साहित्य सभी कुछ उसके प्रभाव में रहे। समाजशास्त्र और इतिहास का अध्ययन व्यक्ति चेतना के आधार पर होता रहा। सामूहिक चेतना की बात कभी सोची तक नहीं गयी। प्रत्यक्षवाद और प्रकार्यवाद से समाजशास्त्र का पीछा कभी नहीं छूट पाया। जबकि प्रत्यक्षवाद यह मानता है कि दर्शन एक विश्व विचारधारा है और दर्शनशास्त्र की परंपरागत समस्याओं को यह कह कर अस्वीकार करता है कि वे आधिभौतिक हैं और अनुभव से उसे परखा नहीं जा सकता, प्रत्यक्षवाद का प्रयत्न ऐसी विधि अथवा विज्ञान का तर्क विकसित करना है जो भौतिकवाद तथा भाववाद के अंतरविरोध के ऊपर या उनसे परे हो।

इस तरह समाजशास्त्र कांट और स्ट्रास के सांच से अभी तक आगे नहीं बढ़ पाया है। समाजशास्त्र की पहली अवधारणा संरचनावाद में ही उलझी हुई है। और उस संरचनावाद ने ऐतिहासिक मूल्य को कितना समझा है, यह इसी बात से प्रमाणित होता है कि संरचनावाद की आधारशिला ही फ्रायड के मनोविश्लेषण और मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, जिससे कि विश्लेषण की सार्वभौम पृष्ठभूमि का विकास हुआ और भू-गर्भ शास्त्रीय सिद्धान्तों में समाहित ऐतिहासिक निरंतरता की बात एक-दूसरे से जुड़ी रहे।

ऐसी अवस्था में साहित्य से ज्यादा जरूरी है, समाजशास्त्र को क्रान्तिकारी भूमिका में आने की, क्योंकि आज भारतीय समाज के लिए, भारतीय समाज के तथ्यों पर आधारित यथार्थपरक पृष्ठभूमि में वर्तमान के हृदयस्पंदन को समझना आज की महती आवश्यकता है। ●

जनता के साहित्य की पहचान

डॉ. चमन लाल

जनता के साहित्य की सबसे पहली व मुख्य पहचान उसके जनता की मुक्ति का साहित्य होने में है, अर्थात जन-मुक्ति का साहित्य ही वास्तविक जनता का साहित्य है। जनता के साहित्य का मुख्य आधार जीवन का यथार्थ होता है व जीवन के यथार्थ को गहराई तक समझने के लिए लेखक का क्रान्तिकारी विश्व-दृष्टि अपनाना जरूरी है।

जन-मुक्ति के संघर्षों में लिखे जाने वाले साहित्य के लक्षण जानने से पहले हमें जनता की अवधारणा स्पष्ट कर लेनी चाहिए। ''जनता'' कोई अमूर्त अवधारणा नहीं है, वर्ग-समाज में ''जनता'' से हमारा तात्पर्य मेहनतकश जनता है। इस मेहनतकश जनता में सर्वप्रथम मजदूर, दूसरे स्थान पर गरीब व मध्यमवर्गीय किसान व तीसरे स्थान पर निम्न मध्य-वर्ग है। उच्च मध्यवर्ग का बहुत छोटा, किंतु सचेत रूप से जन-मुक्ति से जुड़ा हिस्सा भी ''जनता'' का हिस्सा है। ''जनता'' के इन अलग-अलग समूहों की चेतना का स्तर भी अलग-अलग होता है। एक ही समूह के सभी लोगों की चेतना का स्तर भी एक-सा नहीं होता, इसलिए जनता का साहित्य भी चेतना के इन विभिन्न स्तरों को छूने के लिए उनके रूपों में प्रस्तुत होता है।

जन-मुक्ति के साहित्य का दायरा इतना तंग नहीं कि सिर्फ वही साहित्य ही इसके घेरे में आ सके जिसे सामान्य जनता समझ सके। जनता के साहित्य में साहित्य के सरल व आसानी से ग्राह्य रूप व जटिल व मानसिक अभ्यास से ही ग्राह्य रूप - ये दोनों ही शामिल हैं। उदाहरण के रूप में कठिन भाषा-शैली में रचे मेहनतकश जनता के दु:ख तकलीफों व संघर्षों व क्रान्ति के गीत भी जनता के साहित्य के हिस्से हैं व कुछ कठिन बिम्बों में पाब्लो नेरुदा, नाज़िम हिकमत या मुक्तिबोध की आधुनिक कविता में अभिव्यक्त भावनाएं भी जनता के साहित्य की ही शानदार विरासत है।

यह प्रश्न प्राय: उठाया जाता है कि क्या केवल वही साहित्य जनता का साहित्य है, जो साधारण जनता की बिल्कुल निम्नस्तरीय चेतना को छू सके? जन-मुक्ति की आकांक्षा की भावना से रचा वह साहित्य भी जनता का ही साहित्य है, जो इस निम्नस्तरीय चेतना के ग्रहण के दायरे में नहीं है? यदि सिर्फ निम्नस्तरीय चेतना को छूने वाला साहित्य ही जनता का साहित्य है तो विश्व के अत्यंत महान व वास्तविक जन-मुक्ति के साहित्य को जनता के साहित्य के दायरे से बाहर रखना पड़ेगा। यह स्वयं जन-मुक्ति के संघर्ष के लिए भी हानिकारक है। जन-मुक्ति के संघर्षों में किसी भी रूप में सहायक साहित्य जनता के साहित्य का ही अभिन्न अंग है।

जनता का साहित्य साधारण मेहनतकश जनता की चेतना के स्तर को ऊंचा उठाने के कार्य में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। समाज में वर्ग-चेतना सिर्फ किसी वर्ग विशेष में जन्म लेने से ही नहीं बन जाती। किसी वर्ग-विशेष का अंग होना तो उस वर्ग की चेतना प्राप्त करने का आधार मात्र प्रदान करता है। वर्ग-चेतना हासिल करना एक सचेत प्रक्रिया है और इस सचेत प्रक्रिया में जनता का साहित्य भी अपनी भूमिका निभाता है।

समाज के दलित-दमित व अत्याचारों के शिकार मेहनतकश वर्ग-मज़दूर, किसान व निम्न मध्य वर्ग की, शोषक व अत्याचारी शक्तियों द्वारा विभिन्न साधनों से, जिनमें सांस्कृतिक साधन भी शामिल है, गुलाम बनाई गई चेतना को मुक्ति के रास्ते पर ले जाने में जनता का साहित्य कई बार अग्रणी भूमिका भी निभाता है। दमित-दलित व अत्याचार का शिकार वर्ग सिर्फ शोषण व अत्याचार का ही शिकार नहीं होते, उन्हें धार्मिक विचारों व अन्य सांस्कृतिक रूपों द्वारा यह भी बताया गया होता है कि उन पर हो रहे अत्याचार ''उनके पापों'' का ही दंड है व इन अत्याचारों को सहन करने में ही उनकी भलाई निहित है।

जनता का साहित्य जनता की चेतना पर छाए इस कोहरे को साफ करने का काम करता है। वह मेहनतकश जनता को धार्मिक व अन्य प्रकार के प्रतिक्रियावादी विचारों से मुक्त कर, उनको वर्ग-चेतना से लैस करता है, उनके दिलो-दिमाग में उनके अधिकारों की सूझ और उनकी जन-संस्कृति की परंपरा का आदर जगाता है। जनता का साहित्य उसकी सांस्कृतिक चेतना का परिष्कार भी करता है। वह दिलों में एक अच्छी व खूबसूरत जिंदगी जीने की हसरत व इस हसरत को पूरी करने के लिए संघर्ष की चिंगारी जलाता है।

जन-चेतना का स्तर कभी एक-सा नहीं होता। एक ही वर्ग के लाखों-करोड़ों लोगों की चेतना अलग-अलग स्थितियों में विकसित होती है। संघर्षशील जनता की वर्ग-चेतना जिंदगी के वास्तविक संघर्षों में तो रूप धारण करती ही है, वर्ग-संघर्षों के साथ-साथ जनता का साहित्य भी उनकी वर्ग-चेतना को जागृत करता है। लोक-गीत, जन-नाट्य, समूह-गान आदि कला-रूप मेहनतकश जनता की चेतना के सबसे नीचे के तल को छूकर उसे विकास के मार्ग पर बढ़ाते हैं। साथ ही जीवन के संघर्षों व सांस्कृतिक परिष्कार से प्राप्त चेतना की सांस्कृतिक भूख की तृप्ति के लिए साहित्य व कला के अपेक्षाकृत अमूर्त या जटिल रूप भी जनता के साहित्य के लिए जरूरी बन जाते हैं।

किंतु इससे यह नहीं समझा जाना चाहिए कि साहित्य व कला के हमेशा ही यह दो रूप रहेंगे। एक रूप जनता की निम्नस्तरीय व अविकसित चेतना का स्पर्श करेगा व दूसरा रूप उच्च व विकसित चेतना को आनंद प्रदान करेगा। वास्तव में वर्ग-विभाजित समाज ने ही समाज में बहुसंख्यक जनता का सांस्कृतिक परिष्कार रोक रखा है। सही अर्थों में जन-मुक्ति के संघर्षों के दौरान यह सांस्कृतिक दूरी कम होगी व ऐसी साहित्यक रचनाएं सामने आएंगी जिनका कलात्मक स्तर भी ऊंचा होगा व जिनके बिम्ब भी इतने जटिल न होंगे कि बगैर विशेष मानसिक प्रशिक्षण के ग्रहण ही न किए जा सकें। अन्य देशों के मुक्ति संघर्षों के दौरान रचित साहित्य इस बात का गवाह है। रूस में गोर्की, शोलोखोव, आस्त्रोवस्की, मायकोवस्की व अन्य अनेक लेखकों की कृतियां, चीन में लू शुन, माओ त्से तुङ आदि की रचनाएं, जर्मनी में ब्रेख्त की रचनाएं, हमारे अपने देश में प्रेमचंद आदि की रचनाएं इस बात की गवाही देती है कि ऐसी भाषा व ऐसे रूप में उच्चस्तरीय साहित्य रचा जा सकता है, जिसका आनन्द मेहनतकश

जनता भी ले सके व सांस्कृतिक परिष्कार-प्राप्त बुद्धिजीवी वर्ग भी।

जनता के साहित्य की यह जरूरत भी है और समस्या भी, कि रचना में किस प्रकार लोकप्रियता व कलात्मक स्तरीयता में तालमेल बैठाया जाए। इन दोनों में दूरी कम होने में ही जनता के साहित्य की सफलता है।

जनता का साहित्य हवा में से पैदा नहीं होता। वह एक दीर्घकालीन परंपरा का ही अंग होता है। वर्ग-समाज में साहित्य-रचना भी अलग-अलग वर्गों के हितों का प्रतिनिधित्व करती है। प्रत्येक युग के साहित्य में जनता के साहित्य व जनविरोधी साहित्य की दो परस्पर-विरोधी धाराएं होती हैं। मेहनतकश जनता के हितों व उनके संघर्षों से जुड़ा प्रत्येक युग का साहित्य जनता की विरासत का शानदार हिस्सा है व समकालीन साहित्य उस विरासत को और भी समृद्ध बनाता है। ब्रिटिश उपनिवेशवाद के विरुद्ध भारतीय लेखकों का उपनिवेशवाद व सामंतवाद-विरोधी साहित्य, जिसका प्रतिनिधि उदाहरण प्रेमचंद का साहित्य है, हमारे जनता के साहित्य की विरासत है, जिसका आगे विकास हमारे युग का समकालीन साहित्य कर रहा है।

यथार्थ ही जनता के साहित्य का मुख्य आधार है

वैसे तो जीवन हर प्रकार के साहित्य का आधार बनता है, किंतु जनता के साहित्य का तो यह प्राण-तत्व है। लेखक अपनी रचनाओं में कई बार हवाई व काल्पनिक जगत का सृजन भी करते हैं। किंतु जनता के लेखकों के लिए न तो काल्पनिक जगत में विचरण का समय है और न ही उसे इसकी जरूरत है।

सामान्य जीवन की रोजमर्रा की अनेकानेक घटनाएं लेखकों के मन में साहित्यिक प्रतिकर्म जगाती हैं। इनमें से कुछ ऐसी घटनाओं को वे अपनी रचना के लिए चुनते है जो उन्हें सर्वाधिक स्पर्श करती व गहरे में प्रभावित करती हैं। लेखक जीवन के यथार्थ का अपनी रचना में पुन: सृजन करता है व उसे कलात्मक रूप में ढाल कर प्रस्तुत करता है।

यथार्थ के इस पुन: सृजन की प्रक्रिया में लेखक यथार्थ के कुछ पक्षों की अवहेलना करता है। जीवन के सकारात्मक पक्षों को, संघर्षरत वर्गों की संकल्पना करते समय, जनता के साहित्यकार अधिक उभारते है। मृतप्राय वर्गों की, चाहे वे बाहरी रूप में कितनी ही शक्तिशाली क्यों न दिखाई दें और जीवन के नकारात्मक पक्षों को, जनता के लेखक कमतर रूप में प्रस्तुत करते हैं। इस प्रक्रिया में जनता के लेखक कुछ हद तक यथार्थ के दृश्यमान रूप से दूर भी जाते है। वे भविष्य के यथार्थ की, जो अभी प्रकट नहीं है, झलक भी दिखाते हैं। यथार्थ को इस रूप में प्रस्तुत करने को गोर्की लेखक का हक मानते है।

यथार्थ वास्तव में वही नहीं होता, जो सतह पर दिखाई देता है। यथार्थ की सतह से नीचे यथार्थ की गहरी तह होती है, जो कई बार प्रकट नहीं होती। इंसान के मन में भी यह अप्रकट तह होती है व समाजों के भविष्य में भी। सफल व प्रभावशाली लेखक वही है, जो यथार्थ के इन स्तरों को देख सके, इनका परस्पर सम्बन्ध समझ सके व इन्हें अपनी रचना में बुन सके।

जीवन के यथार्थ को समझने की कुंजी यह है कि जीवन अपने सभी रूपों में अंतर्विरोधों से पूर्ण होता है। एक मनुष्य एक ही समय परस्पर विरोधी कामनाओं-भावनाओं से भरा हो सकता है। समाज के अन्तरविरोध परस्पर विरोधी वर्गों के टकराते सम्बन्ध समाज की वास्तविकता है। जनता के लेखक के लिए व्यक्ति के मन व समाज के विभिन्न वर्गों के अन्तर्विरोधों भरे सम्बन्धों को समझना व कलात्मक रूप में उन्हें प्रस्तुत करना बेहद जरूरी है।

जीवन का यथार्थ किसी भी युग में समकालीन भी होता है व ऐतिहासिक भी घटनाएं समकालीन होती है, किन्तु ऐतिहासिक होता है।

कोई भी घटना, चाहे वह व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन की हो या सामाजिक, अपने भूत व भविष्य से संबद्ध होती है। जनता के लेखक के लिए घटनाओं के यथार्थ का ऐतिहासिक संदर्भ पहचानना अनिवार्य है। उदाहरणत:, पंजाब के वर्तमान माहौल में या पूरे देश के संदर्भ में सांप्रदायिक जहर-विरोधी रचनाएं रचने के लिए समकालीन जीवन के ऐतिहासिक संदर्भ को सही रूप में समझना जरूरी है। इसी प्रकार राज्य सत्ता द्वारा फासिस्ट तौर-तरीकों से जनता के जनतांत्रिक अधिकारों के कुचलने को रचना में उभारना व जनता के जनतांत्रिक संघर्षों को साहित्यिक रूप देना भी साहित्य की ऐतिहासिक भूमिका है।

यथार्थ को प्रस्तुत करने के लिए समुचित साहित्यिक व कलात्मक रूप भी जरूरी है। सिर्फ क्रान्तिकारी इच्छाओं की अभिव्यक्ति साहित्य नहीं है, जब तक उन्हें समुचित कला रूप प्रदान नहीं किया जाता, वे नारा ही रहेंगी। किसी भी युग में साहित्य को राजनीतिक व कलात्मक, इन दो मानदण्डों से परखा जाता है। परख के समय राजनीतिक मानदण्ड चाहे प्रधान रहते है किन्तु यदि रचना के राजनीतिक पक्ष को समुचित कला-रूप नहीं दिया जाता तो वह बहुत बार साहित्यिक रचना ही नहीं बनती। पिछले दो दशकों में कई भारतीय भाषाओं में अनेकों ऐसी रचनाएं हुई है, जिनका आज कोई नाम भी नहीं लेता, क्योंकि उन रचनाओं का कला पक्ष इतना कमजोर था कि उनका प्रभाव बिल्कुल सतही रह गया व कुछ समय बाद ही वे रचनाएं भुला दी गई। स्वयं माओ त्से-तुङ ने सही राजनीतिक समझ के साथ-साथ उच्च कलात्मकता की जरूरत पर जोर दिया है।

जैसे जीवन का यथार्थ जनता के साहित्य का मुख्य आधार है, वैसे क्रान्तिकारी दृष्टिकोण जीवन के यथार्थ को समझने का मुख्य आधार है। आज के युग में मार्क्सवादी विचारधारा जीवन के यथार्थ को समझने में सर्वाधिक उपयोगी है व मार्क्सवादी विश्व-दृष्टि प्राप्त किये बगैर समाज के अन्तरविरोधों, विभिन्न वर्गों के परस्पर संबंधों, यहां तक कि मानवीय व्यवहार तक को समझना कठिन है। यद्यपि हमारी परंपरा में अनेक ऐसे लेखक हुए है, जिन्होंने जीवन के अपने समृद्ध अनुभवों से ही ऐसी रचनाओं का सृजन किया कि जनता के दुख-दर्द, उनके संघर्ष स्वत:स्फूर्त ढंग से उमड़ते गये। किन्तु आज के युग में ऐसे लेखक होना, जो एक वैज्ञानिक व क्रान्तिकारी दृष्टि से रहित हो, किन्तु फिर भी जीवन के अन्तरविरोधों को अपने समृद्ध अनुभवों से प्रस्तुत कर सकें, यदि असंभव नही तो अत्यंत कठिन अवश्य है।

जनता के लेखकों के लिए सबसे बड़ी जरूरत, लू-शुन के कथनानुसार -

1. जीवन को बारीकी से देखने, यथार्थ का गम्भीरता से निरीक्षण-परीक्षण की है।

2. जब कहने के लिए कुछ न हो, तो चुप रहने की है।

लू-शुन हमें यह भी समझाते है कि कुछ लेखक गालियां देने को ही क्रान्तिकारी काम समझते है जो न तो साहित्य के लिए उचित है और न ही क्रान्ति के लिए।

क्रान्तिकारी विश्व-दृष्टि लेखक को इस योग्य बनाती है कि वह सामाजिक यथार्थ को जन-मुक्ति के संघर्ष के विकास के संदर्भ में चित्रित कर सके। इस दृष्टि से ही वह समाज की क्रांतिकारी व प्रतिक्रियावादी शक्तियों की पहचान करता है व क्रान्तिकारी शक्तियों का समर्थन करता है। इस दृष्टिकोण को हासिल कर वह भविष्य का क्रान्तिकारी 'विज़न' भी दे सकता है व वर्ग-संघर्ष का विश्लेषण करके मनुष्य के संपूर्ण व्यक्तित्व के बिंब को उभार सकता है। जनता के साहित्य व लेखक की इतनी भूमिका पर्याप्त है। ●

आइजेंस्ताइन और 'पूंजी' पर फिल्म बनाने की योजना

•

बेट्टे बाइरो

महान सोवियत फिल्मकार सर्गेई मिखाइलोविच आइजेंस्ताइन (1898-1948) सिने विधा विषयक अपनी क्रान्तिकारी प्रस्थापनाओं और स्फुट विचार सूत्रों के चलते आज भी ठीक उसी तरह बहसों और विवादों के एक केन्द्र बने हुए हैं जिस तरह बर्तोल्त ब्रेख्त। बुर्जुआ कलाविंद् और सिनेमा शास्त्री भी यह स्वीकार करते है कि सिनेमा कला ने वस्तु और रूप तथा तकनीक के धरातल पर अपने विकास की पहली महान छलांग आइजेंस्ताइन द्वारा निर्मित पीठिका से ही ली थी और उस महान छलांग को जिन महान फिल्मकारों की कलासिकी कृतियों मे रूपायित होते देखा गया, उनमें भी स्वयं आइजेंस्ताइन ही अग्रणी थे।

आइजेंस्ताइन न केवल सर्वहारा सिनेमा के, बल्कि सर्वहारा कला और सौंदर्यशास्त्र के एक गंभीर प्रयोगधर्मा सिद्धान्तकार थे। आइजेंस्ताइन की सिने कृतियां न केवल इस सदी के पहले चतुर्थांश के क्रान्तिकारी काल और पहली सर्वहारा क्रान्ति के सिद्धान्त एवं व्यवहार की अद्‌भुत चाक्षुष दस्तावेज हैं, बल्कि साथ ही वे सर्वहारा कला के महान प्रयोगों की प्रतिनिधि उदाहरण भी हैं। आइजेंस्ताइन अकुण्ठ भौतिकवादी थे। उनका सिनेमा वर्ग-संघर्ष का सिनेमा था। अपनी फिल्मों और अपने सिनेमा विषयक लेखन में उनका सर्वाधिक जोर विषयवस्तु के द्वंद्ववादी 'ट्रीटमेण्ट' पर होता था।

बाद के दौर में सर्वहारा कला के उद्‌देश्यों को लेकर उनकी एक केन्द्रीय चिन्ता यह थी कि उसे बौद्धिक तत्व या सामूहिक बौद्धिक विवेक और भावनात्मक आवेग या आवेगात्मक ज्ञान की एकता या संश्लेषण की स्थिति तक ऊंचा किस प्रकार उठाया जा सकता है। प्राक्‌वर्गीय समाज में, और कमोबेश प्रारंभिक वर्गीय समाज में, ज्ञान का चरित्र आवेगात्मक भी था और सामूहिक विवेक के रूप में भी। बाद के युगों में, समष्टि के विघटन के साथ ही ये दोनों विलग हो गये। शुद्ध अमूर्तन या सैद्धान्तिक दर्शन एक ओर और शुद्ध आवेग दूसरी ओर। सर्वहारा कला का विकास इस विलगाव को दूर करेगा और अकेली फिल्म विधा ही सर्वोन्नत कला-माध्यम के रूप में इस महासंश्लेषण में सक्षम है - ऐसा आइजेंस्ताइन का मानना था। आइजेंस्ताइन ने बुद्धि को उसके सक्रिय और ठोस आवेगात्मक स्रोतों तक लौटाने को सर्वहारा कला का निर्दिष्ट कर्म और रास्ता माना और इस उद्‌देश्य से मार्क्स की 'पूंजी' पर फिल्म बनाने की आश्चर्यजनक घोषणा करते हुए कहा, "...वह फिल्म, जो कामगारों और किसानों को द्वंद्वात्मक चिंतन के लिए दिशा निर्देश करेगी।"

एक सामान्य विवरणात्मक फिल्म के पारम्परिक व्यवहार, किस्सागोई, स्थूल प्रयोजनमुखता, भोंड़ी मनोरंजनधर्मिता और स्थापित भाषा एवं प्रचलित बिम्ब विधान से सीधे टकराते हुए आइजेंस्ताइन फिल्म विधा को एक नये अमूर्तन और सामान्यीकृत बिम्बात्मकता तक ऊंचा उठाकर इतिहास और जीवन के अंतरंगतम लक्ष्य को प्रकट करने के लिए एक ऐसे सिनेमाई निबंध या शोध प्रबंध के रूप में 'पूंजी' पर फिल्म बनाने का सपना देख रहे थे जो अमूर्त विचार के सुस्पष्ट, आवेगात्मक तर्क को निरूपित करते हुए तर्कनिषेधी, विभ्रमात्मक कथातत्व को खारिज कर दे।

पचास वर्ष की अल्पायु में निधन के कारण आइजेंस्ताइन को 'पूंजी' पर फिल्म बनाने का सपना साकार करने का अवसर तो नही मिला लेकिन इसके योजनाओं के बारे में उनकी डायरी में जो नोट्स मिले, वे आज भी बुर्जुआ सिनेमाशास्त्रियों से लेकर सर्वहारा कला के अध्येताओं एवं प्रयोगकर्ताओं के लिए गंभीर अध्ययन का विषय बने हुए हैं।

कई प्रसिद्ध फिल्मों के निर्माण के साथ ही आइजेंस्ताइन ने क्रान्तिकारी सिनेमा के सैद्धान्तिक एवं शिल्पकारिता सम्बन्धी पहलुओं पर प्रचुर मात्रा में लिखा। यह एक दुर्भाग्यपूर्ण विडम्बना है कि आइजेंस्ताइन के सिनेमा और सिनेमा-शास्त्रीय सिद्धान्तों पर जहां जनवादी, वामपंथी दायरों के भीतर बहुत कम चर्चा हुई है, वहीं बुर्जुआ कला विशेषज्ञों ने उनके सिनेमा के तकनीकी पहलुओं पर खूब लिखा है तथा उनके सिद्धान्तों की एकांगी और यहां तक कि मनमानी व्याख्याएं करते हुए उन्हें अध्यात्मवादी या मार्क्सवाद से विपथगामी तक सिद्ध करने की पर्याप्त चेष्टाएं की हैं।

आज, पूंजीवादी कला और सिनमा के नये मानवद्रोही चरित्र और उसकी नयी भूमण्डलीय रणनीतियों पर सोचते-विचारते हुए, और प्रतिकार की रणनीति के बारे में सोचते हुए हमें नये प्रयोगों के बारे में सोचना होगा और नये प्रयोगों पर सार्थक ढंग से सोचने के लिए अतीत के महान प्रयोगों को भी फिर से जानना-समझना होगा। मार्क्स-एंगेल्स, लेनिन और माओ के कला-साहित्य विषयक विचारों के गंभीर अध्ययन के साथ ही गोर्की, स्तानिस्लाव्स्की, बर्तोल्त ब्रेख्त, आइजेंस्ताइन, काडवेल, राल्फ फॉक्स, ग्राम्शी आदि के सैद्धान्तिक लेखन को फिर से पढ़ना-समझना भी आज के नये सर्वहारा पुनर्जागरण और प्रबोधन का एक जरूरी कार्यभार है।

हमारी कोशिश रहेगी कि 'दायित्वबोध' के आगे के अंकों में हम इस तरह की गंभीर वैचारिक सामग्री प्रस्तुत करें। इसकी तैयारी में हम लगे हुए हैं। फिलहाल शुरुआत के लिए हम सर्गेइ आइजेंस्ताइन की 'पूंजी' के फिल्मीकरण की योजना पर बेट्टू बाइरो के एक लेख का अनुवाद सुधी पाठकों के समक्ष गहन चिन्तन और विमर्श के लिए प्रस्तुत कर रहे हैं। आगे हमारा आइजेंस्ताइन के सिनेमा पर और सिनेमाशास्त्रीय सिद्धान्तों पर महत्वपूर्ण गंभीर सामग्री देने का इरादा है। पर फिलहाल शुरुआत इस लेख से....

– सम्पादक

बहुत दिन नहीं हुए, जब आइजेंस्ताइन के घर में एक अज्ञात पाण्डुलिपि मिली थी। वह एक ऐसी डायरी थी जिसमें पूंजी के फिल्मीकरण की योजना के नोट्स थे। इसके पन्नों को उन्होंने अलग-अलग अजीब घड़ियों में और अजीब जगहों पर (कभी सम्पादन-कक्ष में तो कभी अपनी डेस्क पर, वगैरह), पाद-टिप्पणियों की शक्ल में या काम-चलाऊ कागजों पर नोट्स की तरह यों ही लिख डाला था। फिर भी इस (डायरी) का महत्व उससे कहीं ज्यादा है, जितना कि यह सनकी और दुस्साहसी विचार संकेत कर सकता है। ये पन्ने हमें केवल युवा आइजेंस्ताइन के सदा उग्र, सदा विलक्षण दिमागी कारखाने में झांकने की अन्तर्दृष्टि ही नहीं देते, बल्कि फिल्म-भाषा के उपायों के ऐसे नये रास्तों को भी दिखलाते हैं; जिन्हें आज भी पूरी तरह से नहीं सराहा जाता।

जब तक यह नयी पाण्डुलिपि प्रकाश में नहीं आयी थी, तब तक आइजेंस्ताइन का 'पूंजी' को सिने-पट के लिए रूपान्तरित करने का प्रस्ताव एक क्षणिक उल्लेख या एक अर्ध-गंभीर चुटकुले से अधिक कुछ नहीं था। यह ऐसा ही था जैसे उन्होंने फिल्म की असीम संभावनाओं के सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोण की पुष्टि के लिए एक सनसनीखेज शिगूफा छोड़ा हो ताकि यह साबित हो सके कि यह असाधारण बौद्धिक चुनौती भी उनकी पहुंच से परे नहीं है। हर कोई जानता था कि उन्होंने इस बारे में अपने विचार का पहली बार उल्लेख सन् 1930 के अपने प्रसिद्ध सारबोन भाषण के लिखित विवरण में किया था – "प्राचीनतम काल, जादू और धर्म के काल में, ज्ञान आवेगात्मक और सामूहिक विवेक, दोनों था। फिर द्वैतवाद के प्रभाव में वस्तुएं अलग-अलग हुईं। एक ओर निरा सैद्धान्तिक दर्शन, शुद्ध अमूर्तन था और दूसरी ओर शुद्ध आवेग। हमें अवश्य ही लौटना होगा लेकिन आदिम (धार्मिक पड़ाव की) स्थिति में नहीं, बल्कि आवेगात्मक और बौद्धिक तत्वों के सहधर्मी संश्लेषण की स्थिति में। मैं सोचता हूं कि अकेली फिल्म विधा ही इस महा-संश्लेषण में सक्षम है। वही सक्षम है कि बुद्धि को उसके सक्रिय और ठोस आवेगात्मक स्रोतों तक लौटा सके। वही हमारा रास्ता है और निर्दिष्ट कर्म है, जिन्हें हमने चुना है। वही मेरी नयी फिल्म का प्रस्थान बिन्दु होगा। वह फिल्म, जो कामगारों और किसानों को द्वंद्वात्मक चिंतन के लिए दिशा निर्देश करेगी। वह फिल्म होगी, मार्क्स की पूंजी।"[1] इस प्रकार पूंजी ने आइजेंस्ताइन को एक अपने ढंग की शानदार फिल्म के प्रयोग के रूप में आवेशित किया। सामान्यजन को सोचने का प्रशिक्षण देने के महत्वाकांक्षी लक्ष्य में ही इसकी प्रमुख चुनौती निहित थी।

किन्तु हमें ये नोट्स और भी बहुत कुछ कहते हैं। वे विस्तार से उन गहराइयों के बारे में बताते हैं जिनमें से आइजेंस्ताइन ने आरम्भिक अनुभव प्राप्त किये और उससे भी अधिक अहम् बात यह है कि वह सर्जनात्मक पद्धति प्राप्त की जिसने उनकी कल्पनाशीलता को आकर्षित किया। इन नोट्स के लिखे जाने का समय भी अपने आप में सूचनात्मक है। सन् 1927 के अंत में, **'अक्टूबर'** पूरी करने के ठीक बाद और जब वे **'द ओल्ड एण्ड द न्यू'** पर काम कर रहे थे (यह सारबोन भाषण के दो या तीन वर्ष पहले की बात है) तब अपने टुकड़ा-टुकड़ा विचारों में 'अक्टूबर' की शूटिंग के समय सीखे हुए सबक को शामिल करके, वे लिखने की ओर प्रवृत्त हुए। हम जानते हैं कि उनके समकालीन समीक्षकों ने **'बैटलशिप पोटेमकिन'** की तुलना में 'अक्टूबर' को बहुत ही कम सराहा। उन्होंने बार-बार आइजेंस्ताइन की भर्त्सना और निंदा की। यहां तक की श्कोलावोस्की जैसे श्रेष्ठ और संवेदनशील लेखक भी जो एक प्रमुख रूपवादी थे, फिल्म-भाषा में आइजेंस्ताइन की नवीनताओं के आगे चकरा गये और परिणामस्वरूप उन्होंने फिल्म-लेखन में प्रतीकों के संदिग्ध मूल्य को लेकर व्यंग्यात्मक टिप्पणियां कीं। उन्होंने लिखा, "यह ऐसा ही है जैसे क्रांति मूर्तियों की सृष्टि थी, घरों की छतों पर परेड करती हुई पौराणिक मूर्तियों की, कांसे की ऐतिहासिक मूर्तियों की या बागीचों के फाटकों पर खड़ी शेरों और हाथियों की मूर्तियों की– थोड़े में कहें तो बुतों, घरेलू देवताओं और चीनी खिलौनों की दुकान में छोटी-छोटी मूर्तियों की बैठक की सृष्टि थी।"[2]

अपने को कई गलतफहमियों और गहरे अविश्वास के केन्द्र में पाकर आइजेंस्ताइन को विवश होना पड़ा कि अपनी पद्धतियों को धारदार बनाकर पेश करें और उनके लिए स्पष्टीकरण दें। अपने लेखन में वे कुछ नुक्तों को बार-बार उठाते हैं और उनके जरिये एक हठीली संगति के साथ कोशिश करते हैं कि उनकी प्रतीकात्मक विशिष्टता को सिद्ध करें। उनकी डायरी उनकी पहले की फिल्मों के विश्लेषण से भरी है। उस विश्लेषण की विशेषता है अभिव्यक्ति की सरलता और वस्तुनिष्ठ साफगोई। पहले ही वाक्य में अपने निश्चय की घोषणा करने के बाद ("यह तय हो चुका है : हम पूंजी की फिल्म बना रहे हैं : आलेख मार्क्स का होगा। यही एकमात्र तार्किक समाधान है।") वे क्रमश: 'स्ट्राइक', 'पोटेमकिन' और 'अक्टूबर' की उपलब्धियों की जांच इस दृष्टिकोण से करते हैं कि ये फिल्में द्वंद्वात्मक रुझान को आगे बढ़ाने में क्या कुछ कर पायी हैं। उन्हें सर्वाधिक चिन्ता इसकी है कि किस प्रकार सोचने की प्रक्रिया का फिल्म में ऐसा अनुवाद किया जाये कि जैसे चलते-फिरते चित्र अमूर्त विचारों को अभिव्यक्त करते हैं। उनका यह मानना सही था कि इससे पहले किसी ने भी इससे मिलता-जुलता कोई काम नहीं किया। तब वे कहां से यह प्रमाण पा सकते थे कि उनका यह उद्यम न तो ऊलजलूल है और न असंभव ही?

अगर 'स्ट्राइक' "वर्ग संघर्ष की पद्धतियों

पर बनी एक शैक्षिक और सुव्यवस्थित फिल्म है", जिसकी संरचना अनिवार्यतः धारावाही है तो 'पाटमकिन' उससे आगे बढ़कर द्वंद्वात्मकता के प्रसंग में, मनोवैज्ञानिक से कहीं ज्यादा मानवीय करुणा के दैनन्दिन पक्ष को चित्रित करती है। ऐसा वह उसके अमूर्त पहलू की यथोचित पड़ताल करते हुए करती है। आइजेंस्ताइन के लिए तो छलांग लगाते शेरों का रूपक भी -"साधारण जिंदगी से अमूर्त और सामान्यीकृत बिम्बावली में एक छलांग है।" और अन्त में, 'अक्टूबर' तथ्य-परकता और किस्सागोई से अपना रिश्ता पूरी तरह से तोड़ लेने की ओर ले जाती है। यह फिल्म 'अक्टूबर' की घटनाओं का घटनाओं की तरह नहीं, अपितु प्रमेयों की श्रृंखला के निष्कर्ष के रूप में निर्वाह करती है।

ये सारभूत चारित्रिकताएं एक पद्धति के साथ-साथ एक विचार को भी निर्मित करती है। एक ओर आइजेंस्ताइन विवरणात्मक फिल्म के पारम्परिक व्यवहार का सामना कर रहे थे, जिसका एकमात्र उद्देश्य दैनन्दिन जीवन के चित्र दिखाना था और दूसरी ओर वे अपने जीवन के अंतरतम लक्ष्य को व्यक्त कर रहे थे, जो फिल्म-विधा को अमूर्त, सामान्यीकृत बिम्बात्मकता की ऊंचाइयों तक ले जाना था। इस लक्ष्य को पाने का एकमात्र रास्ता उनके लिए यह हो सकता था कि वे अमूर्त विचार के सुस्पष्ट तर्क का पक्ष लेकर कथा सूत्र को रद्द कर दें। इसी के अनुसार वे 'अक्टूबर' का मूल्यांकन करते है। "नाटक, कविता और बैले के बाद अक्टूबर एक नया रूप प्रस्तुत करता है : विषय-वस्तुओं की श्रृंखला पर आधारित निबंधों का संग्रह।" दूसरे शब्दों में , यह एक चिन्तन फिल्म है। इसका तनाव वाद और प्रतिवाद की पारस्परिक क्रियाओं में रहता है और वह एक ऐसे सत्य से संसक्त रहता है जो दृष्टि-युक्तियों को नूतन और विशिष्ट बनाते हुए उनका बौद्धिकीकरण और पुनर्मूल्यांकन करता है। आइजेंस्ताइन का सपना यह है कि वे एक सिनेमाई निबंध, हस्तक्षेप या शोध-प्रबंध की रचना करें। तब क्या इस योजना के साथ हमारा हल्का बर्ताव न्यायसंगत है? बिल्कुल नहीं। आइजेंस्ताइन का साफ़ मतलब पूंजी का उपयोग अपने ऑपेरा-पाठ की तरह करना था; ऐसा आधार, जिस पर वे अपनी विचार-संरचनाओं की तामीर कर सकें।

सेर्गेई मिखाइलोविच आइजेंस्ताइन

पशुवत् साधारणता

आइजेंस्ताइन की सबसे पहली समस्या अपने सिनेमा-संबंधी विचारों के लिए उपयुक्त सामग्री को निश्चित करना था। क्या था ऐसा, जो उन्हें ढांचा दे सकता था? क्या था ऐसा जो उन्हें (विचारों को) चाक्षुष बिम्बावली का रूपाकार दे सकता था? सामान्य वाचिक रचना में विचार अपने तार्किक मार्ग का अनुसरण करते है। वे वक्तव्यों, प्रति-वक्तव्यों, निष्कर्षो आदि के सहारे प्रगति करते हैं। अगर हम एक बार किस्से को रद्द कर दें - साहित्य या नाट्य से उधार ली हुई कहानी को - तो सिनेमा-संबंधी विचारों की भाषा क्या होगी?

हालांकि आइजेंस्ताइन कथावस्तु को पक्के तौर पर खारिज कर देते है, फिर भी वे सहज ही महसूस करते है कि कार्य-व्यापार, सादा और सच्चा कार्य-व्यापार अवश्य ही बचा रखना चाहिए। यहां वे कुछ चकित कर देने वाले निर्देश करते है: हर किसी को निश्चित ही अपनी साधारणता की सीमाओं में रहना चाहिए: संतुलित दृश्य-बंध के उपयोग से हर किसी को अस्वाभाविक या सनसनीखेज मेढक-कूद और अतिरिक्त शैलीवाद से बचना चाहिए। कई महान कलाकारों की तरह आइजेंस्ताइन ने जान लिया था कि मामूली चीजों की क्रमिक खोज से बढ़कर उत्तेजक कुछ और नहीं होता। घटनाओं में धैर्यपूर्वक धीरे-धीरे पैठने से ही हम स्वयं के लिए, उनमें निहित स्वतंत्रतादायी तत्वों का निरीक्षण करने का बहाना स्वीकार कर सकते है। इसका प्रभाव उत्प्रेरक होता है। एक ऐसी स्थिति, जिसमें अपरीक्षित, अज्ञात कल्पनाशीलता के क्षेत्र की ओर ले जाने वाली अंतहीन श्रृंखला होती है। मिसाल के तौर पर वे किसी मनुष्य के जीवन का कोई एक इच्छित दिवस दिखाते है। उस मनुष्य के जीवन में उस दिन जो भी कुछ घटता है, वह तथ्यों से सामान्यीकरणों तक पहुंचने के लिए प्रस्थान-बिन्दु होता है। हालांकि यह जानते हुए कि इस प्रकार के योजनाबद्ध रुझान में आदिम प्रतीकवादिता का खतरा निहित है, (और कौन ऐसा होगा, जो मामूली घटनाओं में सरल और हल्के किस्म के प्रतीकवादी संपर्कों से लुभा न जाता हो?) वे उस महान रचनाकार ज्वाइस का उदाहरण अपनी दृष्टि से ओझल नहीं होने देते; जो बड़ी ही सरलता से एक चिराग जलाने की मामूली समस्या से तात्विक प्रबंध तक पहुंच जाने में सक्षम थे।

दैनन्दिन समाचार पत्रों की छानबीन करते हुए आइजेंस्ताइन ने अपनी 'महान योजना' की सामग्री से भण्डार भर लिया। युद्ध से लौटे किसी अपाहिज सिपाही की पेरिस में आत्महत्या ने उन्हें उसी तरह प्रभावित किया, जिस तरह से किसी आगा खान की सनकी भगवान जैसी पुरोहितगिरी ने अथवा आक्सफोर्ड के रब्बी सितारे द्वारा अपने भक्तों की भीड़ का कृपादान देने या शंघाई की भूखों मरती जनता द्वारा विरोध में अपने को सड़कों पर कारों के आगे डाल देने ने। अगर हम उनकी रुचियों का सावधानी से अध्ययन करें तो हमें यह जानकर आश्चर्य होगा कि मनमौजी आइजेंस्ताइन हालांकि आकर्षणों और प्रतीकात्मकता की ओर स्वाभाविक रूप से खिंचते हुए - सनसनीखेज की तुलना में जाने-पहचाने की ही खोज करते हैं। अमूर्तन को मांस-मज्जा (ढांचा) प्रदान करने के लिए वे पशुवत साधारणता की बात करते है। वे सीधे-सादे दृश्यों : चर्च, स्टॉक एक्सचेंज आदि में सोचते है। हजार सूक्ष्म ब्योरे किसी भी

व्याख्या से अधिक बोलते हैं। किन्तु आइजेंस्ताइन इससे भी आगे बढ़ जाते हैं। कुछ इंचों का सिल्क का टुकड़ा भी खोज-पड़ताल का उपयुक्त विषय हो सकता है। जो भी हो, एक सिल्क का टुकड़ा कई सारे संबंधित चित्रों की सृष्टि कर सकता है और इसलिए ऐसे सम्पर्कों समानताओं और प्रशाखा-विस्तारों को उत्पन्न करता है, जो पूरी की पूरी समाज-व्यवस्था के ताने-बाने को केन्द्र में ला सकता है। अगर युलिसीस में एक कटोरा शोरबा सर्वाधिक दूरवर्ती साहचर्य का विस्फोट कर सकता है - सम्पूर्ण ब्रिटिश नौसेना को उसमें शामिल करके - तो क्यों नहीं ज्वॉयस की तकनीक के आधार पर एक फिल्म का निर्माण किया जाय?

साधारणता को अत्यावश्यक बतलाते हुए आइजेंस्ताइन ने इसका कारण यह प्रस्तुत किया कि कथावस्तु को हावी नहीं हो जाना चाहिए। इसी प्रकार उसे अपने प्रति अत्यधिक ध्यान आकर्षित नहीं करना चाहिए। अंतिम लक्ष्य अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण होता है। कथा-सूत्र को एक बैसाखी से अधिक नहीं होना चाहिए। वह एक ऐसा स्तंभ होता है, जो सामान्यीकरणों और अमूर्तनों की बुनियादी संरचना को सहारा देता है। दूसरे शब्दों में, जितना ही कम भार उपाख्यानात्मक अथवा नाटकीय सामग्री का होगा, उतना ही अधिक भार वैचारिक सामग्री का वह उठा पायेगी और उसकी बौद्धिक क्षमता भी उतनी ही अधिक होगी।

एक जगह आइजेंस्ताइन जर्मन कामकाजी महिलाओं के रूढ़िवाद को व्यक्त करने के कई तरीकों को आजमाते हैं क्योंकि वे महसूस करते थे कि क्रांति के रास्ते में रूढ़िवाद एक बहुत बड़ी रुकावट है। चूंकि यह सर्वविदित है कि एक सुघड़ जर्मन पत्नी अपने पति को एक कटोरा शोरबा दिये बिना बाहर नहीं जाने देती, आइजेंस्ताइन रसोई के बर्तन से खाने की खुशबुओं से भरे वातावरण तक, मसालों से उन जगहों तक जहां मिर्च के पौधे उगते हैं; कभी आगे कभी पीछे जाते हुए, बिम्बों की एक जटिल श्रृंखला में सबसे पहले रसोई-घर के मामूली सिंक (नाली) की झलक देते हैं; तब बढ़ते हुए साहस के साथ रूपकीय उछाल लेते हैं और ड्रायफस, फ्रांसीसियों का अंध-राष्ट्र भक्ति पूर्ण व्यवहार और अंत में परदे पर युद्ध की झलक आती है। शोरबे द्वारा प्रतीकात्मक अर्थ प्राप्त करने से बहुत पहले; उसका एक बार दिखाई दे जाना ही पर्याप्त है; वह अवसरवादिता और श्रमिक वर्ग के विश्वासघात का कुनकुना शोरबा (प्रतीक) बन जाता है। इन बिम्बों से क्या अर्थ, क्या सुसंगत कथ्य संकलित होता है? आइजेंस्ताइन का लक्ष्य अत्यधिक महत्वाकांक्षी है। वे दूरियों को दिक्-काल में एक-दूसरे से अलग करते और उन्हें फिर पास-पास रखकर तथा अमूर्त से उनको ठोस और परिवर्तनकारी ढंग से टकराने देकर ऐतिहासिक सम्पर्कों एवं सामाजिक राजनीतिक व्यवस्थाओं का पूरक रूप प्रस्तुत करना चाहते हैं। "सामग्री के प्रत्येक अंश को अलग करना और उन्हें समान अंतिम निष्कर्ष पर पहुंचाना "- वे लिखते हैं। और वह निष्कर्ष है, वर्ग-चेतना। बाद में वे मनोदर्शन की अपनी पद्धतियों का अधिक स्पष्ट विवरण प्रस्तुत करते हुए उनकी चर्चा इस रूप में करते हैं -"शैलीगत रूप से अल्पभाषी विषय-वस्तुओं की एक श्रृंखला; जिनमें से प्रत्येक किसी विचारधारा से बंद अर्थ के प्रस्थान-बिन्दु का कार्य कर सकता है किन्तु जो अपने आप में, संतोषप्रद रूप से बहुस्तरीय होता है और इसलिए सर्वाधिक विषमताओं की रचना करता है।

धारावाही तकनीक

अब हम आइजेंस्ताइन के विचारों के दूसरे आधार पर पहुंचते हैं; और वह है अंतरविरोधी और द्वंद्वों की ओर निर्देश करने की अवश्यकता। जब भी जिस विषय को आइजेंस्ताइन स्पर्श करते हैं; उनका मस्तिष्क प्रघाती मुकाबले की पदावली में काम करता है। जब भी कोई चित्रमय घटना अथवा जीवन-खंड उनके लिए रूपकात्मक महत्व प्राप्त करता है तो इसलिए कि वे उसमें कुछ खास तनाव देखते है और उसकी ऊर्जा से काम लेते है। अगला कदम हमेशा ही उस उपयुक्त बिम्ब को ढूंढ़ना होता है, जो इसका अनुसरण करे। नतीजे में वे निरंतर ऐसे चाक्षुष दृश्यों के जोड़ को ढूंढ़ते रहते है, जो विरोधी हों किन्तु परस्पर जुड़े भी हों। उनकी अन्तर्दृष्टि चित्रमय घटनाओं के बीच की दिखावटी समस्याओं से कहीं ज्यादा समेटती है। वे ऐसे चल-संयोजनों में भी, जो एक साथ समतल और लम्बवत् हैं, संरचना देख सकते थे। फिल्म निर्माण का प्रथम नियम यह है कि वैचारिक गतिकी (डायनामिक्स) का गति में विश्वसनीय स्थानान्तरण हो। परिणाम हमेशा ही साहचर्यों की गतिशील तरंग होगा। एक अनंत मुक्त प्रवाह-किन्तु ऐसा मुक्त प्रवाह, जो नियमों के एक मजबूत सेट द्वारा समर्थित हो।

डायरी इस प्रक्रिया को स्वयं ही दृष्टांतों द्वारा समझाती है। हमें कुल मिलाकर यह करना है कि मनमौजी प्रतीत होने वाली विचार-श्रृंखला के पीछे झांक लें। तब हम खोज लेंगे कि भले साहचर्य दिलचस्प हों लेकिन उनकी संरचना उच्च-बौद्धिकता से निर्मित हुई है; भले ही बिखरे हुए हों किन्तु लक्ष्योन्मुखी है। यह बहुत करके ऐसा ही है जैसे आइजेंस्ताइन अचेतन रूप से उस द्वंद्व को दर्शाने का प्रयत्न कर रहे है, जिसकी सृष्टि वे अपनी फिल्मों में करना चाह रहे थे। खंड-खंड सतह में से एक बौद्धिक, व्यग्र रूप-संरचना उभर कर आती है।

आइजेंस्ताइन की अपनी साहचर्य-तकनीक के बारे में जो विचार हैं, वे उनकी कृतियों के ऐसे पक्ष को प्रकाशित करते हैं, जिनका अभी तक बहुत ही कम अध्ययन हो पाया है। मानव चेतना कठोरता से सीमित की गयी दिक्-स्वतंत्रता के अन्तर्गत ही विचारों की रचना करती है। तब भी यह दिक् क्रमिक, रैखिक और एकायामी प्रगति की तुलना में बहुआयामी है इसलिए समृद्धतर है।

"श्रृंखला के नैरंतर्य को किसी भी तरह से क्रमिक नहीं होना चाहिए, जिस तरह कथानक में तार्किक प्रगतिशील विधि से वह प्रकट होता है। सहचारी प्रकटन।"

सोच के इस तरीके ने आइजेंस्ताइन को अत्यधिक आवेशित किया क्योंकि यह अकेले, ठोस और वस्तुनिष्ठ केन्द्र के इर्द-गिर्द के विषमदृश्य के समूह तक पहुंचाता है। उन्होंने इसे अपनी धारावाही तकनीक के आधार के रूप में इस्तेमाल किया, जिसकी मौलिकता की समानता केवल तीसरे दशक के अवांगार्द की अत्यधिक निरंकुश उपलब्धियों से की जा सकती है। हालांकि फिल्म के सौन्दर्य-शास्त्र के आरम्भिक दिनों में ऐसे प्रयत्न किये गये कि संगीत की अवांगार्द प्रवृत्तियों से उसकी समानता स्थापित हो सके फिर भी अकेले आइजेंस्ताइन ही ऐसे थे जिन्होंने इतनी स्पष्टता के साथ समझा था कि अपने संरचनात्मक उद्देश्यों के लिए उनका उपयोग कर सकें। यह करते हुए लब वे जब वे किसी सुव्याख्यायित केन्द्रीय विषय के इर्दगिर्द अनूठे अस्थिर विचारों के संगठन की श्रृंखला में जीवन-चित्र खड़े करते है; जब वे पारम्परिक आख्यानक अभिव्यक्त करते है तब उनकी उपलब्धियां उनके समकालीन महान (संगीतकार) शोएनबर्ग से किसी भी कदर कम महत्वपूर्ण नहीं। बराबर की श्रेणी और महत्व के तत्वों के मुक्त साहचर्य के पक्ष में पारम्परिक संरचनात्मक क्रय-परम्परा को दूर करते हुए वे एक अद्वितीय गतिशील संतुलन की सृष्टि करते है। वे चरम अप्रत्याशित विधियों से अपने बिम्बों को पास-पास रखते (जक्स्टापोज) है और जोड़ते है। बाद में विचारों

के अंकुर लगातार साथ-साथ उगते रहते हैं और उनकी शाखाएं फैलती रहती हैं तथा यह सब फिल्म का केन्द्र हो जाता है। संरचना की विश्रृंखल और जटिल प्रकृति के परिणामस्वरूप समृद्ध अर्थ के बहुत से स्तर हो जाते हैं। कथा-सूत्र के विकास में इनकी कोई उल्लेखनीय भूमिका नहीं होती (ये संगीत में स्वर-माधुर्य से अनुकूलता रखते हैं)। रैखिकता को दूर करके आइजेंस्ताइन संयोजन और विचार की नयी ऊर्जा की लगाम को खुला छोड़ देते हैं।

बिम्ब से भावलिपि तक

मुक्त दिक्-काल संबंधों पर आधारित बहुआयामी भवन (संरचना) स्वाभाविक रूप से अपने भवन-खण्डों में रूपांतरित हो जाती है। आइजेंस्ताइन ने अत्यधिक समय और श्रम लगाकर मूर्त पशुवत साधारण को अमूर्तन तक उठाने की समस्या का समाधान पाने का अर्थात उसके संकीर्ण अभिधात्मक लक्षण को दूर करने का प्रयत्न किया। आरम्भिक सोवियत मूक फिल्मों के अन्य अग्रगामियों ने भी यह स्पष्ट अनुभव किया कि उस सामग्री को अलग-अलग करें जिसे वे चाहते थे कि लघु, सुव्याख्यायित इकाइयों में फोटोग्राफ किया जाये। इस के द्वारा वे एक नये तरीके के संयोजन का आधार निर्मित कर सकते हैं। उदाहरण के लिए जाइगा वर्तोव ने खूबसूरत हाथों, सिर और पैरों के अपने फुटेज को अपने आदर्शों के अनुसार एक साथ जोड़कर, एक आदर्श मानव की सृष्टि की संभावना का स्वप्न देखा था। लेकिन वे आइजेंस्ताइन ही थे, जिन्होंने इस विचार को इसके तार्किक निष्कर्ष तक पहुंचाया। वे आइजेंस्ताइन ही थे जिन्होंने कोशिश की कि किसी वस्तु के यथातथ्य बिम्ब से प्रतीकात्मक बिम्ब तक जायें - किसी वस्तु को दिखाने से लेकर प्रयत्न उत्पन्न करने तक। वे वस्तुओं और घटनाओं को इस क्रम में व्यवस्था देते हैं, इस तरीके से उनकी कड़ियां जोड़ते है कि परिणामस्वरूप जो सामने आता है वह यह होता है कि वे जो संबंध उन पर लागू करते है, उन पर वे ही परस्पर प्रतिक्रिया करते है, न कि वे कहां है और अपने आप में क्या है? जैसा उन्होंने एक बार स्वयं ही लिखा था, वे निगमनों और निष्कर्षों पर संकेन्द्रित होते है। उदाहरण के लिए 'अक्टूबर' के देव-बिम्बों के उस दृश्य को लीजिये, जिसकी अकसर चर्चा की गयी है। इसका क्या उद्देश्य है? इतने लंबे दृश्य का क्या मतलब? यह आइजेंस्ताइन के द्वारा प्रत्यय-रचना की एक चेष्टा थी। उस बसेरे से बाहर निकलकर, जिसके वे अभ्यस्त थे, देवगण और प्रतिमाएं, जो एक दूसरे का अनुसरण करती है, पर्दे पर वे देवता के वैयक्तिक चित्रों की तरह प्रकट नहीं होती, वे देवत्व को साकार करने की माध्यम बनती है। आइजेंस्ताइन अपने प्रतीकवाद की रचना करते हैं। क्रम-व्यवस्था के द्वारा वे अन्तर्निहित अर्थ को प्रकट करते है। विरोधाभास यह है कि चित्र जैसा का तैसा नहीं बन पाता बल्कि वह संकेत बन जाता है; एक ऐसा बिचौलिया, जिसे केवल सम्पूर्ण संदर्भ में ही पूरी तरह से समझा जा सकता है। कार्य व्यापार में नैरंतर्य के अभाव और रूढ़िबद्ध क्रमिकता के प्रति अनादर को लेकर वे इतने सुस्पष्ट है कि दर्शक को विवश कर देते है कि वह चित्र से परे के अर्थ की खोज करे। इस प्रकार प्रत्येक चित्र-श्रृंखला एक लेखन प्रणाली बन जाती है अर्थात प्रत्येक चित्र-श्रृंखला अपनी स्वयं की भाव-लिपि विकसित करती है। इससे भी अधिक दिलचस्प शायद इसी के समान प्रसिद्ध 'द ओल्ड एण्ड द न्यू' का दूध-मथनी का दृश्य है। यह घटना अपने आप में इससे अधिक साधारण नहीं हो सकती थी कि किसानों का एक समूह एक नयी मशीन आजमा रहा है। जब वे उस मशीन को घेरकर खड़े होते है तो उनमे से कुछ संदेह से भरे होते है और कुछ उम्मीद से। कुछ ऐसे भी होते है, जो तटस्थ और मात्र उत्सुक होते है। जो भी हो, आइजेंस्ताइन उनकी प्रतिक्रियाओं का अनुसरण प्रकृतवादी निष्ठा से नहीं करते, इससे विपरीत, वे संदेहों और उम्मीदों की अन्योन्य क्रियाओं को इस सीमा तक घनीभूत और ध्रुवीय कर देते है कि अन्त में वे दो चरम स्थितियों में वियोजित होकर रह जाते है : आनंद (विश्वास) और विषाद (निराशा)। दूसरे शब्दों में, वे स्वाभाविक घटनाओं की बहुमुखता को दो विरोधी घटकों में घटा देते है। वैकल्पिक बिम्बों (चित्रों) की आवृति तेज होती हुई लय के साथ संतृप्ति की स्थिति तक पहुंच जाती है और वे अधिक विस्तृत तथा अधिक प्रामाणिकता प्राप्त कर लेते है। प्राप्ति और अप्राप्ति के बीच का संतुलन अभी तक सकारात्मक होता है। आइजेंस्ताइन संपूर्ण चित्र के संदेश को संकेतों में घटा देते है ताकि अमूर्तन अपनी पूर्णता को निष्पादित कर सके।

आइजेंस्ताइन, पूंजी के अपने रूपांतर के बारे में एक नये पद्धति-विज्ञान की, फिल्म-शब्द की नयी संरचना की, फिल्म-बिम्ब की और फिल्म-मुहावरे की चर्चा करते है। उन्होंने महसूस किया कि उनका कर्तव्य है कि इस बौद्धिक क्षेत्र पर विजय प्राप्त करे - पहले माना जाता था कि यह फिल्म के घेरे से परे है- और इसे बौद्धिक विचारधारा की ऊंचाई तक उठाये। और ऐसा करने के लिए एकमात्र रास्ता यही है कि -"बेतरतीब तथ्यों का प्रत्ययों में समान्यीकरण करना"- तथ्यो के परस्पर सम्बन्धो पर बल देना आवश्यक है न कि तथ्यों की तथ्यता पर। आइजेंस्ताइन चित्र के कथ्य को उसके अपने बनने के यथार्थ से बहुत ऊपर उठा देते है और उसे एक मूर्त दृश्य के साथ-साथ सर्वसत्ता के एक अमूर्त प्रतीक के रूप में, व्यवहार में लाते है। इस प्रकार वे मोंताज बनाने की अपनी एक द्वंद्वात्मक पद्धति की रचना कर लेते है।

इन अंतर्संबंधों को निश्चित करने की प्रक्रिया और संविधान (जक्स्टापोजीशन) की व्यवस्था में ही आइजेंस्ताइन ने अंततः मोंताज निर्माण में विशिष्ट भेदों की संभावना को जाना। उन्होंने लिखा, "यह नोट करना दिलचस्प है कि देवों का दृश्य और केरेंस्की के आरोहरण का दृश्य संरचनात्मक स्तर पर एक ओर समान है: चित्रात्मक अंशों की अस्मित और बाद वाले दृश्य (केरेंस्की) में अंतर्शीर्षकीय अर्थवैज्ञानिक आरोहण और अंतर्शीर्षकीय अस्मिता (अंतर्निहित) (देव, देव, देव) और पहले वाले दृश्य (देवों के दृश्य) में अंशों का अर्थ-वैज्ञानिक अवरोहण"।

फिर भी, अभी तक वे अलग-अलग प्रकार के मोंताजों में भेद करने की कोई चर्चा नहीं करते। सहज नैरंतर्य (फिल्म-शब्द) से विहीन उदासीन तत्वों के संयोजन की विचार-संचार योग्यता ही उन्हें मुग्ध किये हुए थी ठीक उसी समय उन्हें हमेशा सम्पादन प्रक्रिया में अंतर्निहित असाधारण रूप से समृद्ध संभावनाओं का भान था और वे अपने फुटेज एक साथ रखते हुए हमेशा ध्रुवीय विपरीतताओं पर दृष्टि रखते थे। अपने कैरियर की इस अवधि में वे रूढ़िभंजक मूर्तिभंजन की शक्ति से अभिभूत थे। प्रयोग की चुनौती को स्वीकारने वे बड़े जोश के साथ उठ खड़े हुए। किसी भी चित्र के प्रयोग की ऐसी पद्धति जो उसके यथा-तथ्य अर्थ के विरोध में जाती हो। अर्थात आधार वाक्य या संकेत के रूप में। जब वे आवश्यक बतलाते है -"लैस के कुल्हाड़े से टुकड़ा अलग कर देना" तो वे चमत्कारिक प्रभाव की ओर संकेत नहीं कर रहे है। यह

कहते समय उनके दिमाग में चित्र को ऐसी ताकत से सघन करना था कि वह संकेत मे बदल जाये। केवल अपने ही चुने हुए संयोजनो मे अर्थ ग्रहण हो सके अर्थात यह जांच करना कि वे चित्र के मूल कथ्य को ध्वस्त करने मे किस सीमा तक जा सकते है। बुद्ध और चीनी मिट्टी की लघु प्रतिमा, अ रिकी टोटम और धार्मिक राजा की विशालकाय मूर्ति, सबका अपना अर्थ होता है किन्तु आइजेंस्ताइन जिस प्रकार लय और व्यवस्था मे उन्हें एक साथ अलग करते है, इससे उनके यथातथ्य अर्थ का महत्व कम हो जाता है और आइजेंस्ताइन की अपनी छाप लिए हुए विशेष तनाव उनमे जुड़ जाता है। चित्रों की विकसित होती श्रृंखला और समान तत्वों का संग्रहण अधिक स्पष्ट अधिक केन्द्रित और अधिक विस्तृत प्रत्यय तक अगुआई करना है। अर्थात मूर्ति या देवता के अपने अमूर्त विचार तक। आइजेंस्ताइन इस अर्थ वैज्ञानिक अवरोहरण का कारण यह बतलाते है कि उनके व्यवहार का सार कई विषम तत्वों के एक चरम प्रत्यय के रूप में केन्द्रित करने मे निहित है।

देवों का दृश्य और केरेन्स्की दृश्य एक समान है, किन्तु दोनों की बुनियादी युक्ति दुहराव है। किन्तु जब आइजेंस्ताइन देवों के दृश्य में भेदों में छिपी समानताओं को जीवन्त करके अर्थ विकसित करते है; तो केरेन्स्की वाले दृश्यों में वे अमूर्त अदृश्य सत्य की ओर इंगित करने के लिए इस्तेमाल करते है: अर्थात केरेन्स्की के शक्तिशाली बनने की अपरिहार्यता, जिसने उसे महत्वाकांक्षा दी। आज हम तर्क कर सकते है कि केरेन्स्की के सीढ़ियां उतरने के बिम्ब का निरंतर दुहराव क्या सीधा-सादापन है? तब से अपेक्षाकृत ज्यादा उपयुक्त, ज्यादा कारगर विचार आविष्कृत हो चुके है। किन्तु आज भी आइजेंस्ताइन में जो हमे आकर्षित करता है, वह यह है कि बिम्ब-श्रृंखला के संयोजन में आने वाली समस्याओं को लेकर उन्होंने प्रयोग किये और उस प्रकार के कथ्य को निर्धारित किया जो उनका ही हो सकता था। अपने आप मे एक बिम्ब का महत्व बहुत ही कम है। गतिशील होकर और वस्तुओं की अपेक्षाकृत ऊंची व्यवस्था के अनुरूप होकर ही वे विशिष्टता प्राप्त करते है।

कई वर्षो के बाद आइजेंस्ताइन ने स्वीकार किया कि वे शब्द वाक्य, फ्रेम-मोंताज की सादृश्यता बतलाने में अकसर बहुत आगे तक चले जाते थे अर्थात फ्रेम संकेत की तरह इस्तेमाल ने उन्हें इतना ललचाया कि वे उत्साह के अतिरेक के शिकार हो गये। उन्होंने उदाहरण के रूप में बताया कि किस प्रकार मे उन्होंने बीन और मेन्शेविको की बलात तुलना की थी। यद्यपि इस प्रकार के बचकाने विरोधों की अवधि जल्दी ही बीत गयी और जो किसी कदर बारीक चित्र इस अवधि में उत्पादित हुए, वे जल्दी ही पृष्ठभूमि मे चले गये और धुंधले पड़ गये तथापि इनके पीछे काम करने वाला सिद्धान्त तत्वत: अपरिवर्तित रहा । मोंताज सनसनीखेज वाद का सिर्फ औजार नही था, यह वाणी का साधन था, विचारों को विकसित करने का साधन था और फिल्म की भाषा के लिए वाक्य-विन्यास था।

'आइजेंस्ताइन बराबर संघर्ष'

यह संक्षिप्त परिभाषा स्वयं आचार्य (आइजेस्ताइन) से उद्भूत हुई है।। मोंताज की संभावनाओं की जांच-पड़ताल करते हुए और इसे लागू करने की सीमा की गणना करते हुए, वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि सम्पादन के केवल दो ही बुनियादी नियम है: संयोजन और संघर्ष। संघर्ष के लिए महत्वपूर्ण है - घटनाओं का क्वथनांक तक लाना, उनके द्वारा चित्र की आयताकार कैद को उड़ा देना और फ्रेम के भीतर ही उनकी तीव्रता और तनाव को तेज किया जाना। जैसे-जैसे वे संघर्ष के विभिन्न क्षेत्रों की गणना करते है वैसे-वैसे उन्हें रूप और संयोजन के प्रति ऐसी संवेदनात्मक कौंध प्राप्त होती है कि आज, पचास वर्ष के बाद भी, (उन क्षेत्रों को) खोजा नही गया। वे जल्दबाजी में ग्राफिक दिशाओ के, मानदण्डों के, मात्राओं के, परिणामों के गहराइयों के टकराने के सूत्रों के नोट्स लेते है। इसी प्रकर प्रकाश और छाया के, वस्तुओं और आयामों के तथा घटनाओं और उनकी अवधियों के बीच संघर्ष दिखाने के लिए भी उन्होंने नोट्स लिए। मोंताज जितनी संभावनाए प्रदान करता है, उन सब पर काम करने से हम बहुत दूर है। अभी बहुत कुछ किया जाना है। अभी तो न जाने कितने संघर्ष (मोंताज के क्षेत्र में) आजमाये जाने के लिए प्रतीक्षा कर रहे है।

मोंताज, आइजेंस्ताइन ने एकबार कहा, आंतरिक दहन-इंजन में होने वाले विस्फोटों की श्रृंखला की तरह था। क्रूर मुठभेड़ों, द्वंद्व और विस्फोट भी उनके इन आरम्भिक नोट्स में, उनके विचारों और उनकी फंतासी के कार्यान्वयन के ढंग के चरित्र को दर्शाते है। इससे पहले कभी भी उनके लेखन मे यह इतना स्पष्ट नही रहा कि यह व्याकरण नही था, जिसे वे उत्तर बनाने का प्रयत्न कर रहे थे बल्कि एक अपेक्षाकृत दृढ़ 'वाक्य संरचना' थी। एक ऐसा वाक्य -विन्यास, जो प्राथमिक निर्मिति को नही, बल्कि संक्रमण और सम्मिलन के तरीकों का व्यवस्थित करने के प्रयत्न कर रहा था। यह स्वीकार करने की इच्छा होने पर भी कि संक्रमण में विविध लय या घटना की स्थान -परिवर्तन सम्मिलित होता है, उन्होंने यह महसूस किया कि इससे प्राप्त होने वाला विरोध अधिक महत्वपूर्ण था। वे जिस चीज के पीछे थे, वह -"विपरीत था, न कि केवल कुछ भिन्न। प्रदत्त विषय वस्तु में हमेशा ही सामान्यीकृत बिम्ब होता है पर बदले में उसके हमेशा एक विपरीत होता है।" जब अनुकूलित प्रतिवर्तों की एक जटिल श्रृंखला ने वे अंतिम कड़ी और उद्दीपक के बीच के सम्बन्धों पर ठहरते है तो वे ऐसा बिन्दु चुनते है, जहां ससारी अंतक्रियाएं स्पष्ट रूप से बंद हो जाती है अर्थात वह बिन्दु जहां विरोधी ढंग के सम्पर्क की सृष्टि करती है, एक नया पुल (उदाहरण "भयानक रूप से अशिष्ट" नग्न चित्रों को उदात्त आत्मिकता के चित्रों के साथ रख दिया गया) उनके जाने-पहचाने प्रधान-प्रभाव की तकनीक की यही आधार है। यह दर्शक को ऐसी स्थिति में ले जाती है, जिससे रुके हुए चित्रों के बजाय वह आवेगात्मक कथ्य के पुट से युक्त अर्थ पाने लगता है।

प्रति फिल्म

आइजेस्ताइन की सर्जनात्मक कल्पना की निर्भीकता उसकी सुस्पष्ट स्वतंत्रता में निहित है। वह स्वतंत्रता जिससे वह अपने स्पष्ट विचारों क अनुसार अपन विश्व निर्मित करता है और जो सारी परंपरा के विरोध में होता है। किसी भी तरह की युक्तियां या पद्धतियां उन्हें कभी अपने विचारों को नया और उत्तेजक बनाने से नहीं रोक सकी। साहित्य से चुन-चुन कर लिये गये विचारों से उनकी कल्पना जीवंत थी किन्तु उसमे कठपुतलियों के नाच के लिए भी जगह थी और डोमियर के ड्राइंगों के लिए भी। ऐतिहासिक सर्वेक्षणों, सर्वहारा के

आवेश मे लगाये गये शिक्षाप्रद नारों और बोकाशियो, ला फोण्टेन और रैबेलियास के लिए भी उसमें जगह थी। अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के इस पक्ष को छुपाने की बात तो दूर, वे चमत्कारिक संकेतों को प्रदर्शित करते हैं। किन्तु उन्होंने यह भी पहचाना था कि इस प्रकार की संरचनाओं को एक नितांत भिन्न प्रकार की निरंतरता की दरकार है : एक ऐसी निरंतरता, जो साधारण तार्किक निगमन के तर्कमूलक नियमों के बजाय मुक्त साहचर्य पर आधारित हो।

अपने वृत्तचित्रों अथवा फिल्म निबंधों ऐसी संरचना, जिसकी पंचमेल सम्पदा में दैनन्दिन समाचारों के पूरक विषय भी शामिल थे- के लिए सामग्री जमा करना आइजेंस्ताइन को एक ऐसी बौद्धिक फिल्म के निर्माण की ओर ले गया, जो पारम्परिक फिल्म के एकदम विपरीत थी। जब पारम्परिक फिल्म, एक अदद कार्य-व्यापार को विविध दृष्टिकोणों से वर्णित करती है और इस तरह मोंताज को एक नितांत औपचारिक युक्ति में बदल देती है जबकि नयी फिल्म मोंताज को विविध कार्य-व्यापारों पर आधारित एक ही दृष्टिकोण से देखती है। और वह दृष्टिकोण क्या हो सकता है, सिवाय एक राय, एक रुझान, एक सोच पद्धति की अभिव्यक्ति के? अब हम आइजेंस्ताइन के 'पूंजी' के फिल्मीकरण की अंतर्हित क्रियाओं को समझने की स्थिति में है, उन्हें घटनाओं का, विषय-वस्तु को अथवा अमूर्त वाक्यों को परदे पर लाने की कोई चिंता नहीं थी, उनका प्रधान लक्ष्य "द्वंद्वात्मक पद्धति की चाक्षुष तकनीक" को सूत्रबद्ध करना था। यदि हम यह ध्यान में रखें कि किसी सुयोग्य भाष्यकार, को अभी आना है और इसका कार्यान्वयन करना है तो हम आइजेंस्ताइन के विचार की भव्यता की अधिक से अधिक सराहना कर सकते हैं। पचास के दशक में फिल्म-निबंध की विधा में साहसिकता से आगे बढ़ना एक खासा फैशन था किन्तु कोई भी फिल्म-तत्व और उसकी संरचना तक तुलनीय साहस तथा उद्भावना शीलता से नहीं पहुंचा। संभवत: ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि कोई भी समग्र विचार का दावा नहीं कर सकता था, जो सामने की वस्तु पर दार्शनिक पकड़ का पर्याय होता। स्थूल निरीक्षण दस्तावेजी नोट्स और साधारण समाचार-फिल्म के अनुकरण तो कमजोर स्थानापन्न होते थे। आइजेंस्ताइन ने जान लिया था कि सर्जनात्मकता की स्वतंत्रता का अभी विधाओं शैलियों, उपायों और रुझानों का व्यापक स्पेक्ट्रम में उपयोग करना भी है। उन्हें इस बहुविधता को बनाये रखने में कोई कठिनाई नहीं हुई। उन्होंने गहरे स्तर पर इसमें एकता पायी और उसे सफलतापूर्वक अपनी कृतियों में गूंथा। आइजेंस्ताइन के 'ऊलजलूल' विचारों को अपनी सही जगह पाने के लिए पचास वर्ष लगे। अब जाकर कहीं फिल्म-निर्माण पर्याप्त रूप से इतना विकसित हुआ है कि पारम्परिक साहित्यिक फिल्म की सीमाओं को चुनौती दे सके और स्वयं की स्वाधीन आत्म-संतृप्ति के कार्यभार की खोज कर सके। इस प्रसंग में आइजेंस्ताइन की 'पूंजी' के फिल्मीकरण की योजना ऐतिहासिक जिज्ञासा से कहीं ज्यादा महत्व रखती है। आज यह योजना हमें कई उत्तेजक बातें बता सकती है क्योंकि फिल्म निर्माण प्रक्रिया में प्रतिभा की भूमिका को वह सुस्पष्ट ढंग से परिभाषित करती है।

आवेगात्मक सोच

किसी भी चीज से ज्यादा आइज़ेंस्ताइन बौद्धिकता और आवेगात्मकता के संश्लेषण की तलाश कर रहे थे। उनका फिल्म-संबंधी प्रबंध मात्र अकादमिक सिद्धान्तवादिता अथवा किसी विचार या सोच के जर्जर दृष्टांत की तुलना में स्पष्ट रूप से कुछ अधिक बतलाता है। "मैं सोचता हूं कि बौद्धिक आकर्षण 'आवेगात्मकता' को कभी अलग नहीं करता।" जो भी हो, प्रभाव की तथाकथित उपस्थिति के रूप में ही सहज क्रिया का अनुभव होता है विचारों का प्रभावशाली प्रघाती सत्य की शर्तों से ही समझा जाना चाहिए। बुद्धिजीवी आइजेंस्टाइन अपने आज के सहकर्मियों से कहीं अधिक यह जानते थे कि फिल्म को कभी अपना लक्ष्य बौद्धिक तर्क के पुनर्निर्माण या उसे घटाने का नहीं रखना चाहिए। जब वे भावात्मक और तार्किक तत्वों की एकता की बात करते हैं तो उनमें स्पष्ट अंतर करने की आवश्यकता पर भी बल देते हैं। मोंताज संरचना प्रभावशाली हो सकती है, अगर वह सिर्फ 'आवेगात्मक प्रवचन' के रहस्यमय नियम खोज निकाले। इसलिये वे लोग गलती पर हैं जो आइजेंस्टाइन की फंतासी से घबराते हैं और उस पर अति -अलंकृत और युरोपियात्मक का लेबल लगाते हैं। एक ओर आइजेंस्ताइन आवेगों के तर्क' के बारे में कहते हैं। और दूसरी ओर उनकी मान्यता है कि सोच कठोर तथ्यों के वस्तुनिष्ठ नियमों का अनुसरण नहीं करते। उनके सृष्टा द्वारा उन्हें गहराई से महसूस होने वाले आंतरिक अर्थ ही, उनके लिए निर्धारित कर दिये गये हैं। सृष्टा की इच्छा होती है कि दर्शक-वर्ग उस अर्थ को स्वीकार करे।

आइजेंस्ताइन को उम्मीद थी कि वे इस तरह का 'आंतरिक स्वगत कथन' 'पूंजी' को विशाल भवन को प्रदान करेंगे अथवा नहीं तो इसके (आंतरिक स्वगत कथन के) अमूर्त, वैज्ञानिक सत्य कैसे आंतरिकीकृत करवायेंगे। इस प्रकार वे इस शुद्ध सैद्धान्तिक कार्य तक भी आवेगात्मक सोच के दृष्टिकोण से पहुंचे थे उनकी सर्जनात्मक प्रतिभा अपने समय से कई दशक आगे थी। इसमें कोई विस्मय नहीं कि उनके सैद्धान्तिक और कलात्मक, दोनों ही प्रकार की कृतियों को गलत समझा गया।

कुशाग्र बुद्धि और अविश्वास की मिली-जुली स्थिति में आइजेंस्ताइन ने इस तथ्य के आगे आत्मसमर्पण कर दिया कि उनका समकालीन वाम, उनकी छाप की बौद्धिक साहसिकता के लिए तब तक तैयार नहीं था और यही वास्तविक त्रासदी भी थी। उन्होंने अपने समकालीनों की तार्किक विचारण के क्षेत्र में अनुभवहीनता और विश्लेषणात्मक प्रकृति के प्रति असहिष्णुता की शिकायत की है। "वे संश्लेषण (या संवाद) की एकांगी मांगों के पापों में गिर गये है।" वे वैचारिक विश्लेषण और आवेगात्मक संश्लेषण के बीच अंतर्निर्भरता की भी सराहना नहीं करते हैं। वे वैचारिक मुक्ति देने वाले और मस्तिष्क को समृद्ध करने वाले पद्धति-विज्ञान के बजाय मार्ग-निर्देशन की उम्मीद रखते हैं।

संभवत: आइजेंस्ताइन की पद्धति का अध्ययन और उसका अनुसरण करने का समय अंतिम रूप से आ गया है। फिल्म (विधा) के पास साधन है कि वह सम्प्रेषण का, अब तक का सर्वाधिक शक्तिशाली माध्यम बन जाये। आइजेंस्ताइन का उदाहरण तो इसे सही रूप से साकार करने की सिर्फ शुरुआत है।

अनुवाद : **वेणु गोपाल**

('पटकथा' से साभार)

1. लिओन मौसिनेक, आइजेंस्ताइन, (न्यूयार्क) पृष्ठ-86
2. सोवियेतस्की एक्रान, जुलाई 1929

(Telos S B, वसंत अंक 1979 में प्रकाशित अंग्रेजी अनुवाद से साभार)

माओ त्से–तुङ की दो कविताएं

मृत कामरेड के लिए

पलकें बंद कर आंसू रोकने की
कोशिश की थी हमने
आंसू माने नहीं -
सामने पड़ी है कामरेड लिङ की
लाश।

दुश्मनों के सीनों पर गोली बनकर
बिंधने से पहले
मरना नहीं चाह रहे थे कामरेड लिङ
उनकी लाश के अतराफ भीगी
आंखों में खड़े हम।

साढ़े तीन हाथ जमीन पर
मुझे लिटाकर
आगे निकल जाओ तुम सब
रुके, कि जंगल के किस कोने से
कब किस रूप में मौत
तुम्हें दबोच लेगी, पता नहीं।
यही समझाना चाह रहे हैं
कामरेड लिङ के खामोश होंठ

खामोश बिगुल की शोकधुन के साथ
हम आगे बढ़ जायेंगे
पीछे मुड़कर नहीं देखेंगे
रात भर खाई-खंदक लांघते हुए
बढ़ते रहेंगे लक्ष्य की ओर
तब तक लाखों लाख जुगनू
कामरेड लिङ की देह में रोशनी
बनकर बसे रहेंगे।

वजन हटा लो

पीली पड़ गई घास पर से हटा लो वजन
दो रातें जरा उसे ताजा हवा, ओस
की छुअन पाने दो -
घास फिर हरी हो जायेगी।

शंघाई से अभी-अभी आया जो
ताजा हवा का झोंका
उसे जरा घास के ऊपर बहने दो -
घास लहरा-लहरा कर
गीत गाने लगेगी, देखना।
पा जायेगी फिर,
बाधाओं में घिरकर, वजन सहकर,
मार खाकर भी न मरने का मिजाज।

सब ठीक हो जायेगा
हवांगहो फिर गाने लगेगा
खुशी के गीत।

ऐसा होना ही है
जान से भी प्यारे कामरेडों को
दफनाते हुए
इतने आंसू, इतना खून,
इतना पसीना बहाते हुए
इस रपटीले पथ पर महीनों पर महीने
किसी अरुणाभ सुबह के लिए
हमारा चलना, चलते जाना
बेकार नहीं होगा।

अनुवाद : आलोक भट्टाचार्य

सुरजीत पातर की कविताएं

सुरजीत पातर समकालीन पंजाबी कविता में अत्यंत सम्माननीय स्थान के अधिकारी हैं। पाश और पातर 1970 के बाद की पंजाबी कविता के दो सर्वप्रमुख हस्ताक्षर हैं। दोनों ही कवियों ने पंजाबी कविता में अपनी मौलिक व विशिष्ट पहचान बनाई व उनके बाद की पीढ़ी के कवियों पर इन दोनों कवियों की अत्यंत गहरी छाप पड़ी।

पंजाबी कविता में इस समय तीन पीढ़ियां सक्रिय हैं। यदि एक ओर डा. हरभजन सिंह, प्यारा सिंह सहराई, संतोख सिंह 'धीर' आदि बुजुर्ग कवि सक्रिय हैं, तो बीच की उस पीढ़ी के सर्वोपरि प्रतिनिधि, पाश की हत्या के बाद पातर ही हैं, जिसमें जगतार, हरभजन हलवारवी, लाल सिंह दिल, मोहनजीत, परमिंदरजीत आदि कवि शामिल हैं। बिल्कुल नई पीढ़ी में स्वर्णजीत सवी, अमरजीत कोंके व स्वराजवीर ने अपनी विशिष्ट पहचान बनाई है। ये कवि पाश और पातर दोनों से ही प्रभावित हैं। पातर तीनों पीढ़ियों की बीच की कड़ी है। पातर ग़ज़ल व गीत के क्षेत्र में भी लोकप्रिय हुए हैं।

पातर के अब तक 'हवा में लिखे हरफ' (ग़ज़ल संग्रह 1971), 'सुरजाें हमसफ़र (1986)', 'हनेरे विच सुलगदी वर्णमाला' (1992) व बिरख अर्ज़ करे (1992) काव्य संकलन प्रकाशित हुए हैं। अपनी गहरी मानवीय संवेदना को सौंदर्यबोधात्मक रूप से काव्य रूप में ढालने में पातर को महत्वपूर्ण सफलता मिली है। - चमनलाल

1. प्यारा

जिन्हें मैं कभी कविता पढ़ाता था
किताबों में छपे काले से अक्षरों से
रंग निकालने सिखाता था
और जो प्यार की कविता कभी सुनते
और कभी एक-दूसरे को देखकर
मुझसे चोरी से मुस्कराते थे
और कोई नज़्म जब तेवर बदलती थी
तो उनके निखरे निर्मल व कच्चे
चेहरों पर
बदलते रंग मुझे बताते थे :
सर हम कविता समझते हैं

उन कोंपलों से लड़कों में
एक का नाम प्यारा था
वह सब की आंख का तारा था
मैंने उस तारे को फिर आसमान होते
देखा था
मैंने प्यारा को जवान होते देखा था

वह गाता था
तो काली हवा में दीपक जलाता था
मैंने उसकी आवाज को ऊंचा उठते सुना
और फिर मैंने सुना
एक दिन कुछ देर बाद
प्यारे को किसी ने कत्ल कर दिया
और मैंने यह सोचा ही नहीं
कि यह वही प्यारा है

यह कोई और होगा
कोई खूंखार बदलाखोर होगा
कोई डाकू या कोई चोर होगा
कि कोंपलों को किसी ने क्यों जलाना था
और उस प्यारे को किसी ने क्यों मारना था
और मैंने यह सोचा ही नहीं
कि यह वही प्यारा है
जो गाता था
तो काली हवा में दिये जलाता था

वह गाता था
वह काली हवा में दिये जलाता था
किसी बात से खफा हो कर
अंधेरे के खुदाओं ने
प्यारा को मार डाला था

और अब जब भी कभी
कोंपलों से लड़कों को मैं
कविता पढ़ाता हूं

किताबों में छपे काले से अक्षरों
से रंग निकालना सिखाता हूं
तो मुझे लगता है
इन में प्यारा भी बैठा है।

2. मेरी हर शाखा में

मेरी हर शाखा में धरती का सोग है
मेरे पत्तों को पतझड़ सुखाता रहा
पत्ते गिरते रहे धरती पर
मैंने यह लिखा हवा जो लिखाती रही

मैं तो धरती हूं मेरा क्रोध-शोक क्या
मेरी तो होनी यही है सदियों से ही
टूटते पत्तों को सीने में संभालकर
फूटते पत्तों को लोरी सुनाती रही

मेरे सब्र के हाथों दुखी हो गये

आखिर एक दिन वे ज्वालामुखी हो गये
मैं बहुत दिन यातनायें, दंगे, हादसे
अपने सीने के भीतर छिपाती रही

तुम किसी से भी पूछ लो कि मेरी जुबां
यह कभी तल्ख हुई न थी इस तरह
साज़ की तार से तेग की धार में
पलटते सौ बरस थरथराती रही

मैं गयी हूं सितमगर के दरबार भी
सर पे लटकी है सांसों की तलवार भी
पर कोई सिहर थी मेरी आवाज़ पे
जो भी दिल ने कहा गीत गाती रही

मैं हवा हूं और वृक्ष ही मेरा साज है
पर किसी शहनशाही को ऐतराज है
उसे पूछे बगैर वृक्षों की पंक्ति क्यों
गीत धरती के दुःख-सुख के गाती रही

मुझे तो धरती के दुखों को सहना भी है
जो बदियां करे उसे कहना भी है
आखिर धरती ही मेरे जैसों को सदा
अपने सीने के भीतर छिपाती रही

जो धरती में छिपते वे छिपते नहीं
लोग कहते खतम हुए वे खतम होते नहीं
धरती उनके कण-कण को फिर जोड़कर
फूल पत्तियां बना फिर उगाती रही

डर सितम से सितमगर सा बन गया
अब तो पातर भी पत्थर सा बन गया
वह बोला नहीं, उठ दरवाजा खोला नहीं
पवन गलियों में शोकगीत गाती रही।

3. सुलगता जंगल

फुंकार रहे जंगल को कैसे चुप कराऊं मैं
एक एक वृक्ष को जाकर क्या समझाऊं मैं

जंगल जो हर मौसम में कहर से लड़ता था
जंगल जो हर आफत की राह में अड़ता था
जंगल जिससे हर कोई अपनी सोटी गढ़ता था
जंगल जो ईंधन बनकर घर-घर में जलता था
उसमें फैली आग किसके सिर लगाऊं मैं

वह जंगल जो खुशबुओं का तोहफा बांटता था
वह जंगल जो फूलों संग हर ऋतु में रंगता था
वह जंगल जो सिर पर कलगी कोंपल टांगता था
मांगता था तो केवल अपना पानी मांगता था

आग की बौछार को बता पानी कैसे बनाऊं मैं

जब जंगल ने तेरे शहर की जेलें भर दी थीं
तब जंगल से तेरे महल की दीवारें डर गईं थीं
तुमने जंगल को बिठा पास फिर बातें की थीं
कौन था जिसकी बातें कसौटी से डर गई थीं

जो कसौटी से डरी, खरी क्यों मान जाऊं मैं

माना मैं जंगल हूं बसता हूं जहालत में
तुम्हें गर्व बहुत तर्क दलील वकालत में
मैं जिसके काबिल हूं मुझे वही जहालत दो
जंगल कहता है मसला ले चलो अदालत में
यह भी नामंजूर तो कौन दर खड़काऊं मैं

तुम्हारी चुप ने जंगल को वह तल्ख़ फिज़ा दी
जंगल में कांटों की एक झाड़ी सी उगा दी
कांटे कांटे कहकर फिर तुमने शोर मचा दिया
कुछ कांटों में पूरे जंगल की बात उलझा दी

गर तुम खुद उलझाना चाहो, कैसे सुलझाऊं मैं

तुम्हें तो जंगल की बात उलझाने में फायदा था
जंगल में कांटे और उगाने में फायदा था
इस जंगल को जंगल और बनाने में फायदा था
और फिर छत पर चढ़ शोर मचाने में फायदा था

देखो-देखो एक भयानक वन दिखलाऊं मैं

और कोई रास्ता जब जंगल को रास न आया
कुछ वृक्षों ने जिस दहशत का रास्ता अपनाया
और जिसका ताना जंगल को बार-बार आया
यूं तुमने ही उस रास्ते को पीर बनाया था

तुम्हें गुस्सा क्यों जब वही पीर पूजूं मैं

वे जो इस जंगल के पहरेदार कहाते थे
वे शायद इस रास्ते को बदलना चाहते थे
डरते थे बेचारे डरते हाथ न डालते थे
यह बात अलग कि निडरता का सबक सिखाते थे

सबक उनके आगे क्या दोहराऊं मैं

इस मनचाही शिखर पे जब खेल तुमने पहुंचा डाला
दहशत को सारे जंगल के सिर पर मढ़ डाला
आधे जंगल को आधे जंगल से लड़वा डाला
फिर मुंह तोपों का जंगल की ओर घुमा डाला

तोपों के आगे कैसे अमन का गीत सुनाऊं मैं

बड़ा जंगल इस छोटे को देखने आया है
इस सुलगते को धूनी की तरह सेंकने आया है
'खौफनाक' का विशेषण इसे देने आया है
तुम्हारी बड़ाई पर माथा टेकने आया है

जंगल को जंगल का मरहम कैसे बनाऊं मैं

पौधा पौधा इस जंगल में मिल भी सकता है
यह जंगल जो सुलगता है यह जल भी सकता है
जलता जलता महलों की ओर चल भी सकता है
हो शायद यह सब कुछ होने से टल भी सकता है

लेकिन कहां से ले आऊं घनघोर घटाएं मैं

फुंकार रहे जंगल को कैसे चुप कराऊं मैं
एक-एक वृक्ष को जाकर क्या समझाऊं मैं

4. नजर

नजर लगी पंजाब को
इसकी नजर उतारो
लेकर मिर्चें कड़वी
इसके सिर से वारो

सिर से वारो, वार कर
आग में जलाओ
नजर लगी पंजाब को
इसकी नजर उतारो

मिर्चें कड़वी जहर से
मिर्चें सिर जली
किधर कहीं से न लानी
आंगन में खूब पड़ीं

पहली भरपूर फसल
इनकी तब उगी
जब खुद ही पंजाबियों
पंजाबी छोड़ी

फिर अगली फसल के
बीज भी नये बिखरने
काटे गये निर्दोष जब
राह चलते मार

काटने वाले कौन थे
कोई भेद न पाया
दोष निर्दोष खून का
पगड़ियों पर आया

वही छींटे खून के
बन गये बहाना
पगड़ी हमारी को बना गया
अपना बेगाना

जहां तक छाया तख्त की
आग ही आग
चौक चौराहे जल रही
पगड़ियां ही पगड़ियां

पत्ते पौधे डालियां
फूलों की लड़ियां
सब कुछ जल गये आग में
मिर्चें न जली

वे मिर्चें जहरीली
इनके सिर पे वारो
सिर से वारो, वार कर
आग में जलाओ

आग पितरों की जीभ है
उनकी भेंट चढ़ाओ
पितरों का बीजा हुआ
बीते संग जलाओ
नजर लगी पंजाब को
इसकी नजर उतारो
लेकर कड़वी मिर्चें
इसके सिर से वारो।

5. गीत

तब वारिसशाह को बांटा था
अब शिवकुमार की बारी है
वे ज़ख्म पुराने भूल भी गये
नयों की फिर जो तैयारी है

हमें तो शेख फरीद बिना
अमृत भी फीका लगता है
हमें तो संत कबीर बिना
क्षितिज भी छोटा लगता है

जो भी जलती है हमारी है
हमें हर एक जोत प्यारी है

आकाश जिसके लिए थाल-सा
सूर्य और चांद चिराग रखे
तारे जिसके लिए मोती थे
और पवन चंवर दिन रात करे [1]

उस शायर की कविता में
यह लीक-सी किसने मारी है

जो अपनी मां को मां न कहे
वह छाया बगैर तरस जायेगा
धूपें बेगानी सह सह कर
एक दिन खुद लौट आयेगा

उसे लगेगा आवाज़ जैसे
उसकी शीतल मां ने मारी है

मै कब कहूं इंसाफ न मांग
या यह कि हक के लिए युद्ध न छेड़
लेकिन दुश्मन की पहचान तो कर
यूं ही न कटवा अपने अंग

यूं पंखों की तौहीन न कर
यह छोटी बहुत उड़ान है

दुखों के खिलाफ अभी लड़ना
भूख के खिलाफ अभी लड़ना
जो छाया के बहाने खा जाते
वृक्षों के खिलाफ अभी लड़ना

तेरी तेग की धार के मैं सदके
उसकी जरूरत से कौन इंकारी है

इसे संभाल के रख चमका के रख
इसकी धार को तेज करा के रख

अंधेरे में प्रकाश लिखना है
इसे आग की लपट बना के रख
कुछ समयों में केवल शमशीर ही
होती एक लिखारी है

लेकिन चली वाट क्यों चलना
आगे की बाट जो मारी है

1. गुरु नानक के प्रसिद्ध श्लोक-'गगन मंह थालु' का संदर्भ

अनुवाद : डा. चमनलाल

❑ ❑ ❑

'पुस्तक चर्चा

एक शैतानी सौदेबाजी:

निकारागुआई चुनावों में अमेरिकी हस्तक्षेप और शीतयुद्धोत्तर काल में अमेरिकी विदेश–नीति

•

विश्वनाथ मिश्र

विलियम आइ. रॉबिन्सन की यह समीक्ष्य पुस्तक, **'ए फॉस्टियन बार्गेन'** (वेस्टव्यू प्रेस, बोल्डर, कोलोरेडो, संयुक्त राज्य अमेरिका , द्वारा 1992 में प्रकाशित) विगत 25 फरवरी, 1990 को निकारागुआ में हुए चुनावों में -जिनमें डैनियल ओर्तेगा के नेतृत्व वाली सान्दिनिस्ता राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चा (एफ.एस.एल. एन) की, एक दशक से चली आ रही सरकार, 42 प्रतिशत मत पाकर, अमेरिका-समर्थित सान्दिनिस्ता-विरोधी गठबन्धन वाली राष्ट्रीय विपक्षी यूनियन (यू.एन.ओ) के 54 प्रतिशत मत के मुकाबले, पराजित हो गयी – अमेरिकी हस्तक्षेप और शीतयुद्धोत्तर काल में अमेरिकी विदेश-नीति का एक गहन विश्लेषण प्रस्तुत करती है।

पहले पुस्तक के लाक्षणिक शीर्षक **ए फॉस्टियन बार्गेन** के बारे में। एक जर्मन किंवदन्ती के अनुसार फाउस्ट सोलहवी सदी का एक भाण और रासायनिक था, जिसके बारे में उसके समसामयिक लोगों का मानना था कि वह नट और शैतान को सिद्ध किया हुआ एक जादूगर था। कालान्तर में उसके बारे में अनेक जादूभरी कहानियां प्रचलित हो गयीं। निर्बन्ध पूंजी-संचय के "स्वर्णिम" एलिजाबेथ-काल में, इन्हीं कहानियों के आधार पर 1589 में, शेक्सपीयर के समवर्ती, **क्रिस्टोफर मार्लो** ने फाउस्ट को एक केन्द्रीय पात्र बना कर, अपना प्रसिद्ध नाटक **डॉक्टर फाउस्टस** लिखा, जिसमें फाउस्ट तत्कालीन बुर्जुआ वर्ग की पूंजी-संचय की खूनी, उद्धत और उद्दाम लालसा का एक ऐसा प्रातिनिधिक प्रतीक है जो किसी भी नियम-विधान को नहीं मानता, और कोई भी अपराध कर डालने के लिए तत्पर रहता है। अपनी इस उद्धत और अमर्यादित हवस के साथ वह सारी दुनिया पर अपना वर्चस्व कायम कर लेना चाहता है। यह [illegible] अमेरिकी साम्राज्यवाद है!

मार्लो के डॉक्टर फाउस्टस से प्रभावित होकर, जर्मन साहित्याकाश के सबसे देदीप्यमान नक्षत्र, **जोहान वोलगैग गेटे** ने, 1717 में, इसी पर आधारित अपनी कृति **फाउस्ट** पूरी की, जिसके पूर्वार्द्ध का फाउस्ट तो सारत: वैसा ही है जैसा मार्लो का, परन्तु उसके उत्तरार्द्ध का फाउस्ट "श्रद्धालु" और "जनता का हितू" बन जाता है। इसी लिए गेटे की दृष्टि में वह "मोक्ष का अधिकारी" है। यह गेटे का फिलिस्ताइनवाद है जो वर्तमान में अमेरिकी साम्रज्यवाद द्वारा पुनरुसज्जित विदेशी हस्तक्षेप की नीति, जैसे "परियोजना जनतंत्र" और "जनतंत्र को प्रोत्साहन" की तारीफ के पुल बांधने वाले, दुनिया भर में फैले, आज के फिलिस्ताइन बुद्धिजीवियों के मुक्त कण्ठ से मुखरित हो रहा है। (यहां प्रसंगवश यह भी चर्चा कर दें कि गेटे ने स्वयं ही स्वीकार किया था कि उनकी कृति फाउस्ट पर **कालिदास** के नाटक **अभिज्ञान शाकुन्तलम** का गहरा प्रभाव था। और तब यह कोई अबूझ बात नहीं रह जाती कि क्यों फाउस्ट के उत्तरार्द्ध का फाउस्ट ' श्रद्धालु' और 'जनता का हितू' के रूप में "चरम मानवीय" बन जाता है, क्योंकि कालिदास ने भी तो ठीक यही किया था कि महाभारत के क्रूर और वहशी दुष्यन्त को "चरम मानवीय" बना दिया था। हालांकि, वनलताओं की ओट से कामुक दृष्टि से शकुन्तला को निहारते हुए " इयमधिका मनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी....." का उद्‌गार प्रकट करने वाले दुष्यन्त की लम्पटता को महाकवि कालिदास भी छिपा नहीं सके है)।

लेकिन गेटे का 'श्रद्धालु' और 'जनता का हितू' फाउस्ट वस्तुत: एक बुर्जुआ विभ्रम है जो यथार्थ से मेल नहीं खाता। सान्दिनिस्ता राष्ट्रीय मुक्तिमोर्चा और उसके नेता, राष्ट्रपति डैनियल ओर्तेगा इसी विभ्रम के शिकार है, जो सम्पन्न हुए चुनाओं में हार के कुछ ही घण्टों बाद, 26 फरवरी 1990 को प्रात: 6 बजे उनके द्वारा दिये गये पराजय-अनुमोदन वक्तव्य से स्पष्ट है : "निकारागुआई जनता के राष्ट्रपति और एक सान्दिनिस्ता नेता के रूप में, मुझे इस महानतम विजय पर गर्व है - और सभी सान्दिनिस्ता योद्धा भी गर्व कर सकते है", क्योंकि "आज, 26 फरवरी निकारागुआ के लिए एक नया रास्ता वैसे ही खोल रही है जैसे हमने 19 जुलाई, 1979 को एक नया रास्ता खोला था," और कि "इस नये रास्ते पर युद्ध और कोण्ट्राओं का लोप हो जायेगा, तथा राष्ट्रीय हित हस्तक्षेपकारी नीतियों पर हावी हो जायेंगे।'" लेकिन विलियम आइ रॉबिन्सन ने, इसी पुस्तक के अन्तिम हिस्से के तौर पर दिये गये 'पोस्टस्क्रिप्ट' में जिस 'चुनावोत्तर अमेरिकी हस्तक्षेप' की विस्तार से चर्चा की है वह डैनियल ओर्तेगा और उनके मोर्चे की आशाओं पर तुषारापात कर देने वाला है।

दरअसल यही है 'फाउस्टियन बार्गेन', जिसे हिन्दी में शैतानी सौदेबाजी कह सकते है, जो अमेरिकी साम्राज्यवाद द्वारा छल-नियोजित

की गयी है, और सान्दिनिस्ता जिसके विभ्रम के शिकार हुए है। लेकिन तब क्या विलियम आई. रॉबिन्सन का यह दावा सही माना जा सकता है कि जिस निकारागुआई जनता ने "एक अनुपम, मानवीय और गहन रूप से प्रेरणादायी क्रान्ति की थी", अब उसने बुर्जुआ और वह भी साम्राज्यवाद द्वारा प्रायोजित और समर्थित चुनाव का रास्ता अख्तियार करके 'अन्यायपूर्ण युद्ध और अन्तहीन कठिनाइयों के मुकाबले अपनी गरिमा को बना लिया है"? क्या इससे सान्दिनिस्ता राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चा (एफ.एस.एल.एन) और उसके नेता डैनियल ओर्तेगा की वर्ग-दृष्टि और विचारधारा पर ही प्रश्न-चिन्ह नहीं लग जाता? बहरहाल, इन प्रश्नों पर आगे उपयुक्त अवसर पर विचार किया जायेगा, अभी तो विलियम आइ. रॉबिन्सन को धन्यवाद ही देना उचित है कि उन्होंने अपनी इस पुस्तक को "निकारागुआई जनता और खासतौर से उन सारे लोगों को समर्पित" किया है "जिन्होंने निकारागुआ के एक बेहतर भविष्य के लिए संघर्ष करते हुए अपने प्राणों की आहुति दी थी।" और इसके लिए भी धन्यवाद कि एक क्रान्तिकारी न सही, एक रैडिकल बुर्जुआ दृष्टि से ही , उन्होंने बहुत साफगोई से अमेरिकी साम्राज्यवाद के हस्तक्षेपकारी चरित्र और निकारागुआई क्रान्ति की समस्याओं को अभिचिन्हित किया है। आगे इन पर कुछ विस्तार से चर्चा की जायेगी।

अमेरिकी हस्तक्षेप की नीति

इस उपशीर्षक से अपनी बात शुरू करते हुए, जार्ज बर्नार्ड शॉ के नाटक **पोलिटिकल एक्स्ट्रावगैन्जा** की याद आ रही है। शॉ ने इस नाटक को तत्कालीन ब्रिटिश साम्राज्यवाद की पाखण्ड भरी युयुत्सा और "सभ्य" एवं "जनतांत्रिक" हथकण्डों से दुनिया पर अपना वर्चस्व बनाये रखने की उसकी उद्दाम पिपासा पर करारा व्यंग करने के लिए लिखा था। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद ब्रिटिश साम्राज्यवाद का वर्चस्व तो नहीं रह गया, उसका स्थान अमेरिकी साम्राज्यवाद ने ले लिया, पर उस पर भी इस नाटक का व्यंग बिल्कुल सटीक बैठता है। आखिर क्यों नहीं, साम्राज्यवाद की आदिम हवस की 'खोज' ही तो अमेरिका है। तभी तो **एलिहू** रूट ने कहा है : "हम अमेरिकनों ने जान लिया है कि हम भी शासन करने की सर्वोच्च क्षमता रखते है; हम केवल अपने देश में ही शासन करने की क्षमता नहीं रखते, बल्कि वह महान शक्ति भी रखते है जिसने सभी युगों में बड़ और छोटे राष्ट्रों के बीच भेद पैदा किया है; जहां कहीं भी मनुष्य है, हम उन पर शासन करने की क्षमता रखते है।"

रॉबिन्सन ने सही इंगित किया है कि एक "शान्तिपूर्ण' और 'विरक्त' अतीत के मिथ के बावजूद, अमेरिका का इतिहास दूसरे जनगणों और राष्ट्रों पर निरन्तर विजय प्राप्त करते रहने का इतिहास है। स्वंतत्र राष्ट्र के रूप में दो शताब्दियों के दौरान इसने दुनिया भर में कोई 175 घोषित और अघोषित युद्ध छेड़े है तथा औसतन एक वर्ष मे एक बार अपनी सेनाएं दूसरे देशों की सीमाओं के अन्दर भेजी है। पश्चिम की ओर विस्तारवादी आक्रमण करते हुए इसने आधे मेक्सिको को हड़प लिया, और मध्य अमेरिका तथा कैरिबियाई देशों का आधुनिक इतिहास तो निरन्तर अमेरिकी हस्तक्षेप और प्यूर्टो रिको कैनाल क्षेत्र, ग्वाटेमाला आदि पर आक्रमण और कब्जा करने का ही इतिहास है। प्रशान्त क्षेत्र में इसने स्पेनी-अमेरिकी युद्ध के दौरान हवाई द्वीप समूह पर कब्जा किया, और फिर फिलिपीन्स पर अधिकार कर लिया। द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त 'मुक्त विश्व की रक्षा करने' का तर्क देते हुए, इसने पूर्ववर्ती औपनिवेशिक साम्राज्यों के पराभव के फलस्वरूप पैदा हुए निर्वात को भरते हुए बड़ी ही निर्लज्जता के साथ, सारी दुनिया में अपने सैनिक बल और राजनीतिक एजेण्ट तैनात कर दिये। इन तैनात सैनिक बलों का दो सौ से अधिक बार इस्तेमाल किया गया है। बेशक, ऐसा कर पाने में इसकी द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर काल में उभरी सर्वशक्तिशाली अर्थव्यवस्था थी, जो युद्ध में विध्वस्त यूरोप और जापान को 'पुनर्निर्माण' के नाम पर 'सहयोग' देकर और भी समृद्ध हो गयी।

लेकिन 1960 और 1970 के दो दशकों के भीतर फिर से उठ खड़ी हो गयी यूरोप (खास तौर से जर्मनी) और जापान की अर्थव्यवस्थाओं ने अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक जगत में अमेरिकी वर्चस्व को हिला कर रख दिया और इससे भी महत्वपूर्ण बात यह हुई कि इस दौरान तीसरी दुनिया के तमाम देशों में उठ खड़े हुए राष्ट्रवादी क्रान्तियों के तूफानों ने इसके वर्चस्व के समूचे गौरव को धूल में मिला दिया, जिनकी उल्लेखनीय रूप से चरम अभिव्यक्तियां वियतनाम में शर्मनाक पराजय और मुवक्किल राष्ट्र 'शाह के इरान' के पतन के रूप में हुई। इण्डोनेशिया में मुंह की खाने के बाद फोर्ड और कार्टर प्रशासनों की थोड़ी अवधि तक अमेरिका 'त्रिपक्षीयता' की नीति का अनुसरण करते हुए विश्व-वर्चस्व मे दूसरे पश्चिमी राष्ट्रों के साथ साझा करता रहा और साथ ही 'दुष्ट साम्राज्य' सोवियत संत्र के साथ निक्सन और किसिंजर द्वारा शुरू किये गये तनाव-शैथिल्य को कायम रखा। परन्तु द्वितीय विश्वयुद्धोत्तरकालीन अवधारणा, 'अमेरिकी शताब्दी' के अहंकार में डूबे अमेरिकनों के विश्वव्यापी वर्चस्व की शर्मनाक क्षतिग्रस्तता उन्हें बेहद नागवार और अपमानजनक लगती थी।

अमेरिकी 'गौरव' को फिर से 'बहाल करने' का बीड़ा उठाते हुए रीगन प्रशासन ने रीगन सिद्धान्त लागू किया जिस पर अमल करते हुए पूरी दुनिया में अभूतपूर्व रूप से सैनिक, पैरा-सैनिक, खुफिया और राजनीतिक व्यूह-रचना कर डाली- जो एक पुनस्सजित अमेरिकी हस्तक्षेपकारी विदेश नीति का प्रयोगीकरण थी, 'रीगन सिद्धान्त' के रूप में पुनस्सजित यह विदेशनीति 'अमेरिकी शक्ति का प्रति-प्रक्षेपण' थी यह एक सैन्य-राजनीतिक सिद्धान्त था जो वियतनाम युद्ध में मिले 'सबक' पर आधारित था। इस पुनस्सजित विदेश नीति के रणनीतिज्ञों ने वियतनाम युद्ध में अमेरिकी पराजय का विश्लेषण करते हुए जो समाहार प्रस्तुत किया था, उसको रॉबिन्सन के हवाले से इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है: "....यद्यपि अमेरिका यूरोप में सोवियत संघ के मुकाबले परम्परागत या नाभिकीय युद्ध की तैयारियों में अपना ध्यान केन्द्रित किये हुए था, फिर भी द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से उसे जिन टकराओं में उलझना पड़ा था उनमें अधिकतर टकराव तीसरी दुनिया मे "सोवियत मुख्तारों" के साथ गैर-परम्परागत टकराव ही थे। परम्परागत युद्ध में श्रेष्ठ आग्नेयास्त्र-शक्ति प्रभावशाली होती है। परन्तु गैर-परम्परागत टकरावों में, श्रेष्ठ आग्नेयास्त्र शक्ति अपने आप में निर्णायक नही होती। अतः रणनीतिज्ञों ने यह निष्कर्ष निकाला कि अमेरिका को इसी कारण असफल होना पड़ा कि वह यह नही पहचान सका था कि गैर-परम्परागत (अर्थात क्रान्तिकारी) युद्ध सैनिक कार्यभार की अपेक्षा, प्रायः राजनीतिक अधिक होता है। वियतनाम में अमेरिका ने व्यापक परम्परागत सैनिक श्रेष्ठता प्रदर्शित की थी; और अधिकतर लड़ाइयां जीती भी थीं पर युद्ध वह वस्तुतः इसी कारण हार गया था कि युद्ध का परिणाम ऐसे राजनीतिक परिवर्तनशील कारकों द्वारा निर्धारित हुआ था जिनके बारे में अभी पूरी तरह से समझा नहीं जा सका था।

बेशक परम्परागत सैन्य श्रेष्ठता ने इन परिवर्तनशील कारकों में तब्दीली की थी पर इसके बावजूद सैनिक उपकरण राजनीतिक लक्ष्य प्राप्त करने का महजं एक साधन ही तो था। अमेरिकी रणनीतिज्ञों ने, जैसा कि वे समय-समय पर करते ही रहते हैं, पुन: उन्नीसवीं सदी के मशहूर प्रशियाई सैन्य सिद्धान्तकार कार्ल फॉन क्लॉजविट्ज और उसके इस सूत्र वाक्य को ढूंढ़ निकाला कि "युद्ध अन्य साधनों से राजनीति का विस्तार है।" उन्होंने अंग्रेजों और फ्रांसीसियों द्वारा उनके उपनिवेशों के राष्ट्र वादी विद्रोहों के दमन के प्रयासों से लेकर माओ त्से-तुंग, वो गुएन जिआप और चे गुवारा के क्रान्तिकारी अभियानों तक के आधुनिक विद्रोहात्मक और प्रति-विद्रोहात्मक अनुभवों का अध्ययन किया। रणनीतिज्ञों ने गैर-परम्परागत युद्ध में अमेरिका की भावी भागीदारी से सम्बन्धित कई आवश्यक निष्कर्ष निकालने, और इन निष्कर्षों को निकारागुआ समेत, तीसरी दुनिया की टकरावभरी स्थितियों के लिए विनियोजित किया। पहला, यह कि अब अमेरिकी अभियानों का निशाना शत्रु के सैनिक बलों के बजाय स्वयं जनसंख्या को, जनता के दिलों-दिमाग को बनाया गया। दूसरा, यह कि इस कार्यभार के अन्तर्गत अमेरिकी नीति -निर्माताओं को इस निशाना बनायी गयी जनसंख्या की विशिष्ट संस्कृति, संवेदनाओं और इतिहास के साथ-साथ उनकी क्रान्तिकारी शक्तियों की क्षमताओं का लेखा-जोखा रखना था। दूसरे देशों के विरुद्ध अभियानों को इस ढंग से रचा जाना था कि प्रत्येक विदेश-नीति के कार्यान्वयन की परिस्थितियों के लिए उपयुक्त हों। तीसरा, अब इतना ही पर्याप्त नहीं रह गया था कि क्रान्तिकारी शक्तियों को नष्ट करने का प्रयास किया जाये; अब उखाड़ फेंकी जाने वाली सरकार या पराभूत किये जानेवाले आन्दोलन के एक सक्षम विकल्प के तौर पर एक प्रतिक्रान्तिकारी आन्दोलन का सृजन, वैधकीकरण और निशाना बनायी गयी जनसंख्या के समक्ष प्रस्तुतीकरण आवश्यक था। चौथा, राजनीतिक और सैन्य संगठन के नये रूप विकसित करना आवश्यक था। (इसी निष्कर्ष ने अन्य संगठनों के साथ-साथ, एन ई डी (जनतंत्र के लिए राष्ट्रीय वृत्ति- ले.) के गठन का मार्ग प्रशस्त किया। और, पांचवां , यह कि हस्तक्षेपकारी परियोजनाएं केवल तभी कारगर ढंग से कार्यरत रह सकती थी जब ऐसे प्रयास का समर्थन करने वाले अमेरिकापरस्त जनमत की स्थिति सुदृढ़ हो। ऐसे जनमत को सहेजना भी आवश्यक था और इनकी नजर में ऐसे प्रयास की वैधता स्थापित करना भी।

इन्हीं निष्कर्षों की परिणति के तौर पर निम्न प्रचण्डता युद्ध (low intensity war) के रूप में नयी हस्तक्षेपकारी विदेश-नीति को पुनस्सज्जित किया गया। यहां यह संकेत कर देना जरूरी है कि "निम्न प्रचण्डता" शब्दों के प्रयोग का यह कतई अर्थ नहीं था कि यह सचमुच एक कम तीव्रता से चलाया जाने वाला युद्ध था। वस्तुत: यह एक अत्यन्त परिष्कृत "रगड़-घिसाई" की नीति था, जो अपने निहितार्थ में एक सम्पूर्ण युद्ध की नीति थी। इसे एकदम स्पष्ट शब्दावली में, अल सल्वाडोर में अमेरिकी सैन्य सलाहकारों के प्रमुख, कर्नल जॉन वाग्हेल्स्टीन ने इस प्रकार व्यक्त किया था- जिसे प्राय: उद्धृत किया जाता है : " यह आधारभूत स्तर पर सम्पूर्ण युद्ध है - एक ऐसा युद्ध जिसमें राजनीतिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक युद्ध शामिल है, और कि इसके अन्तर्गत सैनिक पक्ष तो कई मामलों में महज एक दूरवर्ती चौथा स्थान ही रखता है।"

हस्तक्षेप की इस नयी नीति के तहत, 1983 में जनतंत्र के लिए राष्ट्रीय वृत्ति (एन ई डी) का गठन किया गया, जिसकी पहल तो वस्तुत:, 1979 में कार्टर प्रशासन के दौरान ही की जा चुकी थी (स्मरण रहे कि यह वही वर्ष है जब 19 जुलाई 1979 को डैनियल आर्तेगा के नेतृत्व में सान्दिनिस्ता राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चा (एफ एस एल एन) ने निकारागुआ में घृणित सोमोजा शासन का अन्त कर एक क्रान्तिकारी सत्ता स्थापित की थी; यह भी स्मरणीय है कि स्वयं कार्टर प्रशासन ने भी सोमोजा प्रशासन के विरुद्ध धुर दक्षिणपंथी तत्वों को प्रोत्साहित करना शुरू कर दिया था, और जुलाई 1979 में सान्दिनिस्ता विजय के छह माह बाद, एक अत्यन्त गोपनीय समझौता करके, आज की धुर दक्षिणपंथी अमेरिका परस्त निकारागुआई राष्ट्रपति वायलेता चामोरो के अखबार La Prensa को कम से कम दस लाख डॉलर की आर्थिक सहायता की थी, जिसके पीछे निहित उद्देश्य यह था कि "उसकी एजेन्सी (सीआइए) के लिए सम्बन्ध -सूत्र बनाये जायें - ताकि विरोध को जिन्दा रखा जाये और इस एजेन्सी द्वारा एक नयी (उत्तर-सान्दिनिस्ता) सरकार के नेताओं के बीच सम्पर्क और दोस्त बनाने के कार्य को सुनिश्चित किया जा सके")। इस एन ई डी के जरिए नयी पुनस्सज्जित विदेश-नीति के उपकरण के तौर पर "परियोजना जनतंत्र" या "जनतंत्र को प्रोत्साहन" का अभियान चालू किया गया। यहां उल्लेखनीय है कि इसका अभिप्राय स्पष्ट करते हुए रोनाल्ड रीगन ने जुलाई 1982 में ब्रिटिश संसद के समक्ष अपने भाषण में कह भी दिया था कि अब अमेरिका सारी दुनिया में "जनतंत्र के अवरचनागत ढांचे के संरक्षण " में मदद करने के लिए एक नये कार्यक्रम पर अमल करेगा।

चूंकि अमेरिका के ठीक नाक के नीचे मध्य अमेरिका को अमेरिकी साम्राज्यवाद ने अपनी इस पुनस्सज्जित हस्तक्षेप की नीति के लिए एक रंगमंच के रूप में निर्धारित किया था जिसका "परीक्षण स्थल" निकारागुआ था, इसलिए इस नीति को उसने अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना कर आजमाया। 1983 में अमेरिकी कांग्रेस के एक संयुक्त सत्र को सम्बोधित करते हुए, तत्कालीन राष्ट्रपति रीगन ने कह भी दिया था : "यदि हम वहां (मध्य अमेरिका में) अपनी प्रतिरक्षा नहीं कर सकते, तो अन्य कहीं भी हावी होने की उम्मीद नहीं कर सकते। तब हमारी साख धूल में मिल जायेगी हमारे मैत्री सम्बन्ध टूट जायेंगे तथा हमारे देश की सुरक्षा पंगु हो जायेगी।"

निकारागुआ में अमेरिकी हस्तक्षेप

रॉबिन्सन ने सही इंगित किया है कि "निकारागुआ के प्रति अमेरिकी रणनीति, रीगन द्वारा 1981 में युद्ध की प्रत्यक्ष घोषणा से लेकर 1990 के चुनावों तक, रगड़-घिसाई की एक प्रक्रिया थी जिसमें क्रान्ति के विरुद्ध बहुविध प्रकार के सुनियोजित सैनिक आर्थिक, राजनीतिक, कूटनीतिक, मनोवैज्ञानिक और विचारधारात्मक दबाव इस्तेमाल किये गये। सोमोजा के राष्ट्रीय गार्ड के जिन अवशिष्ट तत्वों को शुरू-शुरू में कोण्ट्राओं के रूप में फिर से संघटित किया गया था, उन्हें अब देहाती क्षेत्रों में निर्बन्ध छोड़ दिया गया था, जो आर्थिक और सामाजिक अवरचनागत ढांचों को जर्जर और ग्रामीण आबादी को आतंकित करने लगे थे। निकारागुआ की अपने स्थापित अमेरिकी बाजारों में पहुंच रोक दी गयी, और अन्तत: अमेरिका के साथ उसके सम्पूर्ण व्यापार पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया, और इसी दौरान वाशिंगटन ने यह भी किया कि अन्तरराष्ट्रीय ऋणदाता एजेन्सियों पर अपने प्रभाव का इस्तेमाल करके निकारागुआ को वित्तीय सहायता प्राप्त करने के सारे स्रोतों से वंचित करवा दिया। अमेरिका द्वारा, खासतौर से अपने यूरोपीय मित्रों और लातिनी अमेरिकी राष्ट्रों पर दिये गये कूटनीतिक दबाव ने निकारागुआ द्वारा नये बाजार और ऋण प्राप्त करने के सामान्य स्रोत विकसित करने के प्रयासों को

भी बाधित कर दिया। रगड़-घिसाई की प्रक्रिया को जारी रखने में सहायक तौर-तरीकों के रूप में प्रत्यक्ष अमेरिकी आक्रमण के खतरे को इतने प्रभावी ढंग से निरन्तर बनाये रखा गया कि निकारागुआ प्रतिरक्षा तैयारी और खर्च को ऊंचे स्तरों पर बनाये रखने के लिए विवश बना रहे, जनसंख्या पर एक युद्ध का मानसिक संत्रास हावी रहे, तथा विभिन्न प्रकार के अभिकरणों - जैसे निकारागुआई सरकार और जनसंख्या अन्तरराष्ट्रीय समुदाय और अमेरिकी जनमत - के रुख को अपने अनुकूल मोड़ा जा सके''। इन सारे दबावों का एकमात्र लक्ष्य यह था कि सान्दिनिस्ता सरकार या जो अन्ततोगत्वा धराशायी हो जाये या घुटने टेक दे।

''परियोजना जनतंत्र'' या ''जनतंत्र को प्रोत्साहन'' की रगड़-घिसाई की नीति के तहत सान्दिनिस्ताओं के व्यापक सामाजिक आधार को खोखला करने तथा सान्दिनिस्ता विरोधी शक्तियों का एक सामाजिक आधार तैयार करने के लिए अमेरिकापरस्त सामाजिक ग्रुपों की ''आवश्यकताओं और कुण्ठाओं'' को खूब हवा दी गयी और सशक्त प्रचार-माध्यमों के जरिऐ भारी आबादी को इस ढंग से गुमराह करने की कोशिश की गयी कि वह स्वयं निकारागुआई क्रान्ति और क्रान्तिकारी सान्दिनिस्ता सरकार के विरुद्ध हो जाये। रॉबिन्सन ने लातिन अमेरिका के बारे में 1960 के दशक में रेगिस डिब्रे के इस कथन की अन्विति करते हुए सही इंगित किया है कि अमेरिका का यह हस्तक्षेपकारी प्रयास '' क्रान्ति के भीतर प्रति-क्रान्ति'' पैदा करने की का एक प्रयास था।

वस्तुत: निकारागुआ में (और अन्यत्र भी) अमेरिकी सैन्य और चुनावी हस्तक्षेप उसकी विदेशनीति की कोई नयी विशिष्टता नही है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से उसने सारी दुनिया में इटली और यूनान से लेकर कांगो, वियतनाम, ग्वाटेमाला, चिले और जमैका आदि दर्जनों देशों तक में सैनिक या चुनावी, या दोनों ही प्रकार के हस्तक्षेप किये है। और निकारागुआ में अमेरिकी हस्तक्षेव का इतिहास भी कोई नया नहीं है। उन्नीसवीं सदी के दौरान अमेरिका ने निकारागुआ पर चार बार सैनिक आक्रमण किया तथा 1912 से रह रह कर लगभग बीस वर्षो तक अमेरिकी सैनिक वहां डेरा डाले रहे। इस दौरान 1928 में अमेरिकी सेना ने स्वयं अमेरिकी राजदूत हेनरी स्टिम्सन को निकारागुआई चुनाव आयोग का चेयरमैन बनाकर ''चुनाव'' संगठित किया। इन्हीं ''स्वतंत्र चुनावों'' के अन्तर्गत और बाद में अमेरिका ने राष्ट्रीय गार्ड का गठन करवाया जो अनास्तासियों सोमोजा -गार्सिया के निरंकुश पारिवारिक शासन की शक्ति का आधार बना। यद्यपि अमेरिका द्वारा स्थापित चुनावी प्रक्रिया का उल्लंघन करके (जिसपर अमेरिका की कुछ नाराजगी भी हुई थी) 1934 में षडयंत्रकारी तरीके से सोमोजा परिवार सत्तारूढ़ हुआ था फिर भी उसके शासन को तत्कालीन राष्ट्रपति फ्रैंकलिन रूजवेल्ट ने मान्यता दी थी और सोमोजा-शासन अमेरिकी मदद से लगभग पैतालीस वर्षो तक यानी तब तक कायम रहा, जबतक कि 1979 में सान्दिनिस्ता क्रान्ति ने उसे उखाड़ नहीं फेंका।

लेकिन जैसा कि पीछे इंगित किया जा चुका है अमेरिका की वियतनाम में हुई शर्मनाक पराजय, तथा प्रत्यक्ष सैनिक या सीआईए की गुप्त षडयंत्रकारी तख्तापलट की कार्रवाइयों से जो भद्द पिट चुकी थी, उससे 'सबक' लेकर उसने अपनी हस्तक्षेपकारी विदेश-नीति को पहले से कहीं अधिक परिष्कृत बनाया तथा ''परियोजना जनतंत्र'' या ''जनतंत्र को प्रोत्साहन'' का मुखौटा लगाकर रगड़-घिसाई की अत्यन्त घिनौनी और भीतर ही भीतर तोड़ देने वाली नीति पर चल पड़ा। इस रगड़-घिसाई की प्रक्रिया ने ही निकारागुआ की हर तरह से आर्थिक और वित्तीय तथा साथ ही साथ विकासात्मक नाकेबन्दी कर दी जिसके फलस्वरूप जैसा कि रॉबिन्सन ने स्वीकार किया है, निकारागुआ में चुनावी हस्तक्षेप की आधारभूमि तैयार कर दी गयी। इस प्रकार एक दीर्घावधिक प्रतिक्रान्तिकारी निम्न प्रचण्डता युद्ध की नीतियों के तहत सान्दिनिस्ता के चुनावी पराजय के बीज बो दिये गये; उन्हें खाद--पानी देकर संवर्धित किया गया। चुनावी हस्तक्षेप इसी की अन्तिम परिणति था। रॉबिन्सन का यह निष्कर्ष एकदम सही है कि इसका उद्देश्य यही था कि जब 1990 के चुनाव का समय आ जाये तो रगड़-घिसाई की दस वर्षो की 'उपलब्धि' को सान्दिनिस्ता-विरोधी वोट के रूप में हासिल किया जाये।

अब आइये देखें कि रगड़-घिसाई की इस प्रक्रिया के तहत अमेरिका ने निकारागुआ में कैसे-कैसे हस्तक्षेप किये। रॉबिन्सन ने रेखांकित किया है कि ''वाशिंगटन की भाषा में जो विरोधी शक्तियां चुनावों में सान्दिनिस्ताओं का विरोध कर रही थीं वे 'जनतांत्रिक' और 'स्वतंत्र' विरोधी पक्ष थीं। लेकिन वास्तव में यह विरोधी पक्ष इनमें से दोनों ही नही था। यह निकारागुआई विशिष्ट (एलीट) वर्गो से जुटाया गया एक दक्षिण-पक्ष था और इसे सान्दिनिस्ताओं को नेस्तनाबूद कर डालने के अमेरिकी प्रयास के अन्तर्गत, वर्षो के दौरान सावधानीपूर्वक एक उपकरण के रूप में तैयार किया गया था। जनतांत्रिक और स्वतंत्र शब्दालियों के इस्तेमाल से सरकार पर 'सर्वसत्तावादी' होने का आरोप लगाना अपेक्षाकृत अधिक आसान हो गया, लेकिन विरोधी-पक्ष का काफी हिस्सा अपने संघर्ष को आगे बढ़ाने के लिए गैरजनतांत्रिक और कानून से इतर उपाय अपनाये जाने पर भी आमादा था। सान्दिनिस्ता-विरोधी अखबार La Prensa के एक सम्पादक, जैम चामोरो (वायलेता के सम्बन्धी) ने कोण्ट्राओं और आन्तरिक विरोध-पक्ष के बीच श्रम-विभाजन का स्पष्टीकरण करते हुए कहा था : ''सशस्त्र प्रतिरोध (सान्दिनिस्ता) दखलंदाजी को रोकने के लिए बुनियादी तौर पर आवश्यक है। कोण्ट्रा सशस्त्र संघर्ष कर रहे है और हम एक दूसरे ढंग से राजनीतिक पार्टियों और निजी उद्यम के साथ संघर्ष कर रहे है। विरोधी-पक्ष अविछिन्न रूप से अमेरिका का मुखापेक्षी था पहले सोमोजा को विस्थापित करने में और अब सान्दिनिस्ताओं को। विराधी पक्ष ने कभी भी जनता को सम्बोधित नहीं किया; अमेरिका की भांति ही वह भी हर उस किसी भी सरकार या सामाजिक आन्दोलन की अवधारणा को अस्वीकार करता था जिसे वह नियंत्रित नहीं कर सकता था।''

यद्यपि निकारागुआ में आन्तरिक विरोधी पक्ष को सी आइ ए के मार्फत गुप्त सहयोग देते रहने की नीति तो कार्टर प्रशासन से ही चल रही थी और पूरे बुश प्रशासन के दौरान भी जारी रही, परन्तु इसका उद्देश्य यह था कि सोमोजा की निरंकुश तानाशारी के स्थान पर दक्षिणपंथी विरोधी पक्ष को सत्तारूढ़ किया जाये तथा लोकप्रिय सान्दिनिस्ता विजय को रोकने के लिए राष्ट्रीय गार्ड को एक संस्था के रूप में बनाये रखा जाये। परन्तु इसके बावजूद जुलाई 1979 में सान्दिनिस्ता क्रान्ति विजयी हो गयी। तब कार्टर ने एक गुप्त नीति के तहत विरोधी पक्ष को दी जाने वाली सहायता और तीव्र कर दी तथा खासतौर से वायलेता चामोरो के अखबार La Prensa को भारी आर्थिक सहायता दी जाने लगी। बुश ने इस नीति को जारी रखा।

निकारागुआ में सान्दिनिस्ता क्रान्ति की सफलता और एफ एस एल एन सरकार के सत्तारूढ़ हो जाने के बाद रीगन प्रशासन ने अपने खुले और छिपे तौर के दोनों ही हस्तक्षेप तेज कर दिये। इन कार्रवाइयों का उद्देश्य हर हालत में सान्दिनिस्ता सरकार को उखाड़ फेंकना था। इसके तहत 1981 में दस लाख डॉलर की सहायता उस निजी उद्यम

की वरिष्ठ परिषद (सी ओ एसई पी) को दी गयी जिसे निकारागुआ में अमेरिकी राजदूत ने अपनी नीति का 'अग्रवाहक' कहा था। 1983 में एक गुप्त नीति के तहत रीगन ने निकारागुआ में सी आइ ए के मार्फत न सिर्फ सान्दिनिस्ता विरोधी कोण्ट्राओं की सैनिक सहायता में भारी वृद्धि कर दी, बल्कि सान्दिनिस्ता सरकार के विरुद्ध एक 'राजनीतिक कार्यवाही' के तहत निकारागुआ की सरकार विरोधी आन्तरिक शक्तियों को दी जाने वाली आर्थिक सहायता में भी भारी वृद्धि कर दी। 1983 से 1988 के बीच अनुमानत: एक करोड़ डॉलर प्रति वर्ष की दर से ये रकमें खर्च की जाती रहीं। रॉबिन्सन ने एक सीधा आंकलन किया है कि 1990 में निकारागुआ में चुनाव होने से पूर्वतक सीआइए के माध्यम से सान्दिनिस्ता विरोधी शक्तियों की मदद में अमेरिका ने दस वर्षों में कुल दस करोड़ डॉलर खर्च किये। यहां यह कह देना जरूरी है कि यह रकम तो वह है जिसका भण्डाफोड़ सार्वजनिक तौर पर हो चुका है। इसके अतिरिक्त भी रकमें खर्च हुई ही होंगी जिसका खुलासा अभी तक नहीं हो पाया है।

अमेरिका की 'जनतंत्र को प्रोत्साहन' की नीति कितनी साजिशाना है इसे स्पष्ट करने के लिए यहां एक और बात की चर्चा कर देना आवश्यक है। उल्लेखनीय है कि एफ एस एल एन ने 1969 में ही अपने कार्यक्रम के तहत निकारागुआ में जनतांत्रिक चुनाव की पद्धति को संस्थाबद्ध करने का लक्ष्य निर्धारित किया था तथा 1979 में क्रान्ति करके सत्तारूढ़ होने के कुछ ही महीनों के भीतर चुनाव कराने की मंशा भी जाहिर की थी, लेकिन इसका विरोध सरकार में साझा कर रहे धुर दक्षिणपंथी तत्वों खासतौर से वर्तमान शासक वायलेता चमारो और अल्फांसो रोबेलो ने ही किया था क्योंकि उन्हें डर था कि सान्दिनिस्ताओं की आसमान छूती लोकप्रियता चुनाओं में उनका पूरी तरह सफाया कर देती।

इसके बाद फिर सान्दिनिस्ता सरकार ने 1980 में घोषणा की कि चुनाव 1985 में कराये जायेंगे तथा नवम्बर 1983 में इस घोषणा में पुन: संशोधन कर आगामी नवम्बर 1984 तक ही चुनाव करा देने की घोषणा कर दी। इसको लेकर अमेरिका को अच्छी-खासी परेशानी महसूस होने लगी। लिहाजा उसने 1984 के चुनाव का बहिष्कार करने के लिए निकारागुआई विरोधी शक्तियों के कान भरने शुरू कर दिये। स्वयं अमेरिका ने भी इस चुनाव का खुले तौर यह कहकर बहिष्कार कर दिया कि यह चुनाव 'सोवियत शैली का स्वांग' भर था। लेकिन इसके बावजूद 1984 में चुनाव हुए और 504 रजिस्टर्ड प्रेक्षकों तथा लगभग 2,000 पत्रकारों की निगरानी में हुए। निश्चय ही ये चुनाव अन्तरराष्ट्रीय मानदण्डों पर भी निष्पक्ष थे। इन सम्पन्न हुए चुनावों की निष्पक्षता पर टिप्पणी करते हुए ब्रिटिश लिबरल पार्टी के नेता लार्ड चिटनिस ने जो निकारागुआ के चुनावों में एक सम्मानित प्रेक्षक भी रह चुके थे - स्पष्ट शब्दों में कहा था कि "....निकारागुआ का चुनाव अलसल्वाडोर में 1982 और 1984 में हुए चुनावों की अपेक्षा बेहतर थे"[4] यहां उल्लेखनीय है कि अलसल्वाडोर में जो चुनाव हुए थे वे अमेरिका के जनविरोधी कार्यक्रमों के तहत प्रायोजित किये गये थे।

लेकिन भले ही अमेरिका की रगड़-घिसाई की नीति निकारागुआ के 1984 के चुनावों में कोई कामयाबी हासिल नहीं कर सकी, वह न केवल बदस्तूर जारी ही रही, बल्कि और भी तीव्र होती गयी। 4 नवम्बर 1984 को हुए चुनावों के कुछ ही दिन बाद निकारागुआ में अमेरिकी राजदूत बर्गोल्ड ने निकारागुआई विदेश मंत्रालय के एक अधिकारी को अपने कार्यालय में धमकाते हुए कहा कि "अब से आपको समझ लेना चाहिए कि अब हर चीज कोण्ट्राओं पर केन्द्रित होगी" क्योंकि वह "हमारा मुख्य उपकरण है"।

1986 में इरान-कोण्ट्रा काण्ड और अगस्त 1987 में हुए मध्य अमेरिकी देशों के शान्ति समझौते से निकारागुआ के विरुद्ध अमेरिकी रगड़-घिसाई की नीति को और बारीक, छद्मपूर्ण और जहरीली बनाने की दिशा में अमेरिका ने सोचना शुरू कर दिया। स्वयं अमेरिकी विदेश विभाग में तमाम बहसें शुरू हो गयीं, जिनमें एक तरफ धुर दक्षिणपंथी कोण्ट्राओं पर अधिक जोर देना चाहते थे जब कि अमेरिकी कांग्रेस के अधिकतर सदस्य जनतंत्र के लिए राष्ट्रीय वृत्ति (एन ई डी) के मार्फत जनतंत्र के जरिए शांति की हस्तक्षेपकारी नीति के प्रबल समर्थक थे। अन्तत: दूसरी रणनीति ही निर्णायक तौर पर सुनिश्चित की गयी। निकारागुआ के संविधान के अनुसार नवम्बर 1990 में चुनाव होना निर्धारित था। लेकिन अब तब की 'जनतांत्रिक' रगड़-घिसाई की नीति के तहत, निकारागुआई विरोध-पक्ष, अमेरिकी मदद से, 1984 के मुकाबले, कहीं अधिक अनुकूल स्थिति में हो चला था। इसीलिए 1988 में निकारागुआ के प्रति अमेरिकी विदेश नीति का यह उदघोष सार्वजनिक तौर पर प्रकट हुआ: " यदि मुद्दा जनतंत्र का है तब तो यह लड़ाई हम जीत ही सकते है।" लेकिन इसके बावजूद कोण्ट्राओं के जरिए प्रत्यक्ष युद्ध की दबावकारी स्थिति बनाये रखने की नीति को अमेरिका ने तिलांजली नहीं दे दी। यह बात पेण्टागन के एक अधिकारी द्वारा 1989 के अन्त में दी गयी इस धमकी से स्पष्ट है : "2000 दुर्दान्त गिरोहबन्द साथी निकारागुआई सरकार पर दबाव बनाये रखेंगे उसे अपने आर्थिक संसाधनों को सेना पर खर्च करते रहने को विवश करते रहेंगे तथा उसे अपनी आर्थिक समस्याओं को हल करने से रोकते रहेंगे।"

यद्यपि 1988 के अन्त में रीगन की जगह बुश के आ जाने से सदिनिस्ताओं को कोई भ्रम नहीं था कि निकारागुआ के प्रति अमेरिकी हस्तक्षेप की नीति से लगातार प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष युद्ध, हस्तक्षेप और आर्थिक नाकेबन्दी झेलते-झेलते निकारागुआई जनता के लिए "शान्ति" एक आसन्न आवश्यकता बन चुकी थी। इधर सान्दिनिस्ता-विरोधी शक्तियां भी चुनाव की आवश्यकता को लेकर पहले से कहीं अधिक मुखर हो चुकी थीं, और अमेरिका, जिसने 1984 के चुनावों का, 'सोवियत शैली का स्वांग' कह कर, बहिष्कार किया था, अब अपनी पुनस्सजित हस्तक्षेपकारी नीति के तहत जनतंत्र के जरिए शान्ति की मुखर वकालत करने लगा था, जबकि इसकी अन्तर्निहित सच्चाई यह थी कि अब वह कोण्ट्राओं की मदद करने के साथ-साथ चुनाव एवं अन्य नागरिक कार्यवाहियों के नाम पर निकारागुआ में सान्दिनिस्ता-विरोधी पक्ष को तथाकथित 'मानवीय' और 'राजनीतिक विकास' के लिए 'सहायता' देने की रणनीति बना चुका था। उधर सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप में चल रहे खुले पूंजीवादी विपर्यय की घटनाओं के कारण अब उनसे निकारागुआ को मिलने वाले समर्थन और सहयोग के स्रोत भी बाधित हो चुके थे। ऐसी ही विकट परिस्थितियों में चुनावों के जरिए 'शान्ति' बहाल करने की गरज से सान्दिनिस्ताओं ने एक महीन की लम्बी बैठक करके, नवम्बर 1990 में, प्रस्तावित चुनावों को और पहले खिसकाकर, फरवरी 1990 में ही निश्चित कर दिया।

चुनावों की घोषणा होते ही अमेरिका निकारागुआ के बिखरे चौदह विपक्षी गुपों को एक राष्ट्रीय विपक्षी यूनियन (यू एन ओ) में मोर्चाबन्द करने के उद्देश्य से अति सक्रिय हो गया। अमेरिकी राजनयिकों और कूटनीतिज्ञों की भारी भीड़ वाशिंगटन से मानागुआ की ओर प्रवाहित होने लगी। मई 1989 में वायलेता चामोरो, उनकी बेटी क्रिस्टीना चामोरो और तमाम दूसरे विपक्षी प्रतिनिधियों को वाशिंगटन बुलाकर, जनतंत्र के लिए राष्ट्रीय वृत्ति (एन ई डी) की ओर से "सीख" दी गयी। इस

तरह की चक्र-वार्ताओं का एक अटूट सिलसिला चालू हो गया। एन ई डी के जरिए भारी वित्तीय सहयोग विरोधी पक्ष की ओर प्रवाहित होने लगा। बुश प्रशासन की ओर से इसे 'खेत के मैदान को समतल करने' के लिए की जा रही 'सहायता' कहा गया। निकारागुआई सरकार को विवशत: इससे सहमत होना पड़ा, बस इस मामूली सी शर्त को लागू करते हुए, कि चुनावों के लिए निकारागुआई पार्टियों द्वारा बाहर से प्राप्त 'चन्दों' का पचास प्रतिशत 'जनतंत्र के लिए कोष' में जमा होगा। सितम्बर 1989 में अमेरिकी कांग्रेस ने निकारागुआ में " चुनावी अवरचनागत ढांचे की सहायता के लिए" पचास लाख डॉलर निकारागुआ के "राजनीतिक संगठनों, गठबन्धनों मीडिया के स्वतंत्र घटकों, स्वतंत्र लेबर यूनियनों तथा व्यवसायी, नागरिक और पेशेवर ग्रुपों" को देना स्वीकार किया। इसका भारी हिस्सा राष्ट्रीय विपक्षी यूनियन (यू एन ओ) तथा उसके चुनावी उपकरण इंस्टीट्यूट फॉर इलेक्टोरल ट्रेनिंग एण्ड प्रोमोशन का समर्थन करने वाले नेशनल डिमॉक्रेटिक इंस्टीट्यूट फॉर इण्टरनेशनल अफेयर्स, (एन डी आइ) और नेशनल रिपब्लिकन इंस्टीट्यूट फॉर इण्टरनेशनल अफेयर्स (एन आर आई) को, तथा सीधे यू एन ओ को दिया गया।

पूरे चुनाव के दौरान अमेरिका "निष्पक्ष" रहने और "किसी का पक्ष न लेने" का दावा करता रहा। परन्तु यह दावा स्वयं में कितना हास्यास्पद था कि एक तरफ तो उसने दस वर्षों तक एक पक्ष को (सान्दिनिस्ताओं को) अपने हमलों का निशाना बनाता रहा और दूसरा पक्ष, जिसे वह सहायता दे रहा था, उसी का 'मानसपुत्र' था। इसके अतिरिक्त, यह तथ्य भी है कि यू एन ओ और एफ एस एल एन के अतिरिक्त सात अन्य पार्टियां भी चुनाव लड़ रही थीं, पर अमेरिका ने सिर्फ यू न ओ का ही "सहायता" दी तथा शेष सातों विपक्षी पार्टियों को अपने प्रभाव से हाशिए पर धकेल दिया। इसीलिए एक गैर-यूएनओ नेता ने तीखेपन से शिकायत की : "अमेरिका ने केवल उन्हीं ग्रुपों को आर्थिक सहायता दी जो निकारागुआ में अमेरिकी इरादों के साथ थे"

अमेरिकापरस्त विपक्षी दलों को यूएनओ में मोर्चाबन्द कर लेने के बाद अमेरिका ने निकारागुआ के नागरिक समाज की संस्थाओं में घुसपैठ बनाकर उन्हें अपने अनुरूप ढालना शुरू कर दिया। इस कार्रवाई को अमेरिकी हस्तक्षेप-विशारदों ने "विरोधी नागरिक मंच" के निर्माण की संज्ञा दी। इसके तहत संचार माध्यमों, ट्रेड यूनियनों, व्यावसायिक संगठनों, नागरिक समूहों युवाओं, महिलाओं, आदि को "एकजुट" किया गया। चूंकि मजदूरों में सान्दिनिस्ताओं का आधार सबसे मजबूत था, अत: उसे कमजोर कर छिन्न-भिन्न कर डालना अमेरिकी रणनीतिज्ञों के लिए कुंजीभूत महत्व रखता था। तभी तो निकारागुआ में अमेरिकी राजदूत रिचर्ड मेल्टन ने कहा था कि "श्रम को संगठित करना कुंजीभूत सरोकार" तथा "विपक्ष को एकजुट करने का प्रश्न होना चाहिए।" इसके लिए वर्षों से अमेरिकी हस्तक्षेप के फलस्वरूप आर्थिक रूप से विध्वस्त निकारागुआ के मजदूरों (एवं अन्य जनगण) की आर्थिक कठिनाइयों को सान्दिनिस्ता-विरोधी लामबन्दी के लिए भुनाने के लिए इस्तेमाल किया गया तथा उन्हें अमेरिकापरस्त यू एन ओ की दिशा में मोड़ने का हर छल छद्म किया गया। इसी तरह के प्रयास युवाओं, महिलाओं, अध्यापकों एवं अन्य बुद्धिजीवी समुदायों के बीच किये गये। खासतौर से 30 वर्ष तक के युवाओं में - जो कि निकारागुआई जनसंख्या का लगभग पचास प्रतिशत, और कुल मतदाता-संख्या के 44 प्रतिशत से अधिक थे, तथा साथ ही, सान्दिनिस्ताओं की क्रान्तिकारी ऊर्जा के कोर भी थे- ये प्रयास पूरी शिद्दत के साथ किये गये। एक नया "नागरिक युवा संगठन" बनाने के लिए 1988 और 1989 के दौरान, एन ई डी ने कुल एक लाख इक्यावन हजार डॉलर खर्च किये। इस संगठन को एन ई डी ने "जनतांत्रिक संस्थाओं को सुदृढ़ बनाने के लिए अहिंसात्मक प्रयासों" को प्रोत्साहन देने वाला एक "निष्पक्ष नागरिक युवा संगठन" कहा।

चूंकि अधिकतर नौजवान साम्राज्यवादी हस्तक्षेप के विरुद्ध क्रान्तिकारी शासन की प्रतिरक्षा में लड़ाई के मोर्चों पर चले जाते थे, और या तो मृत्यु को प्राप्त होते थे या विकलांग होकर वापस आते थे, अतः परिवार में, खासतौर से, उनकी माताओं के मन में युद्ध के प्रति एक गहरी वितृष्णा होती थी। एनईडी ने वितृष्णा को भुनाने की गरज से अप्रैल 1989 में निकारिगुआई महिला आन्दोलन (एन एम एन) चलाया जिसके अधिकतर नेता यूएन ओ की महिला कार्यकर्ताएं थी। इस अभियान पर इनईडी ने भारी धनराशि खर्च की।

इस प्रकार सभी मोर्चों पर सान्दिनिस्ता विरोधी गतिविधियां संगठित कर ली गयीं। 1989 के मध्य तक अमेरिकी अधिकारियों ने अपनी इन "उपलब्धियों" पर भारी सन्तोष व्यक्त किया। इसके अतिरिक्त, एक व्यापक पैमाने पर "निष्पक्ष रेडियो प्रोजेक्ट" और "निष्पक्ष टेलीविजन प्रोजैक्ट" के तहत धुआंधार सान्दिनिस्ता-विरोधी प्रचार किया गया, जो हिटलर के "फिफ्थ कालम" और गोयबेल्सी "झूठ" को भी मात कर देने वाला था।

यद्यपि चुनावी हस्तक्षेप की अमेरिकी नीतियां अधिकांशत: वाशिंगटन में तैयार की जाती थीं और सीधे मानागुआ में लागू की जाती थीं, फिर भी, अमेरिका ने सान्दिनिस्ता-विरोधी अन्तरराष्ट्रीय मकड़जाल बुनने में भी कोई कसर नहीं छोड़ी। अगस्त 1988 में अमेरिकी विदेश विभाग में मिआमी में "लातिनी अमेरिकनों के एक तदर्थ ग्रुप" की एक गुप्त बैठक यह तय करने के लिए बुलायी गयी कि कैसे निकारागुआ में विरोधी पक्ष के लिए "लातिनी अमेरिकी समर्थन" जुटाया जाये।" इस हेतु वेनेजुएला के सामाजिक जनवादी नेता कार्लोस एण्ड्रूस पेरेज की पूरी-पूरी मदद पूरे चुनाव के दौरान ली जाती रही। इसी तरह के प्रयास अमेरिका ने यूरोप और जापान से भी समर्थन प्राप्त करने के लिए किये।

इसी बीच एक दुर्घटना भी हो गयी थी। जुलाई 1989 में अमेरिकी दूतावास और निकारागुआई विरोधी पक्ष द्वारा नान्देम शहर में सान्दिनिस्ता-विरोधी संयुक्त प्रदर्शन करने के कारण अमेरिकी राजदूत रिचर्ड मेल्टन को मानागुआ से खदेड़ा जा चुका था। चूंकि मेल्टन अमेरिकी विदेश विभाग और निकारागुआई विरोधी पक्ष के नेताओं के बीच एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कड़ी रह चुके थे, अत: अब इस कमी को पूरा करने के लिए अमेरिका ने मानागुआ में नये सिरे से व्यापक और सघन "मकड़जाल बुनना" चालू कर दिया। इसके तहत उसने कोस्टारिका, वेनेजुएला, जापान, ब्राजील आदि के दूतावासों को अपने विश्वास में लेना शुरू किया। खासतौर से जापानी राजदूत जोजिस् कोमिशी और ब्राजीलियाई राजदूत सर्गिओ डि क्विरोस दुआर्ते ने "महती" भूमिकाएं अदा की।

लेकिन इन तमाम छल-नियोजनों के बावजूद चुनाओं के लगभग छह सप्ताह पूर्व तक यह स्पष्ट नहीं हो पाया था कि अमेरिकापरस्त राष्ट्रीय विपक्षी यूनियन (यू एन ओ) की विजय हो ही जायेगी। 17 जनवरी 1990 को ब्राजीलियाई राजदूत डि क्विरोस दुआर्ते ने चौदह लातिनी अमेरिकी राजदूतों के एक अनौपचारिक समूह - **ग्रुपो लैटिन अमेरिकानो** - से अपने चौदह दोस्तों को दावत पर यह जानने के लिए आमंत्रित किया कि "कौन जीतेगा, यू.एन.ओ. या एफ.एस.एल.एन.?" उनमें से तेरह का जवाब था कि एफ.एस.एल.एन. जीतेगा। अकेला

अयेल्स ही एक ऐसा व्यक्ति था जिसने यू.एन.ओ. के जीतने का दावा किया था। इस पर 100 डॉलर की बाजी रखी गयी और चुनाव-परिणाम घोषित होने के बाद 26 फरवरी को, वह अपना इनाम लेने मानागुआ गया भी।

जैसा कि ऊपर इंगित किया जा चुका है, चुनाव-परिणाम की यह घोर अनिश्चितता अमेरिका के लिए भारी चिन्ता का विषय बन गयी। लेकिन निकारागुआ के चुनाव चूंकि अन्तरराष्ट्रीय प्रेक्षकों की एक भारी भीड़ की निगरानी में होने थे, अत: अमेरिका ने इसी भीड़ में समस्याओं के साथ-साथ चुनावी छल-नियोजन की ''गुंजाइशें'' भी देख ली। अब उसे करना यह था कि वह प्रेक्षकों के दृष्टिकोणों और व्यवहार को प्रभावित करने के उपाय अपनाये। चूंकि अन्तरराष्ट्रीय प्रेक्षण में अमेरिका भी सम्मिलित था ही, अत: अपने '' प्रेक्षकों'' द्वारा निकारगुआ की चुनाव-प्रक्रिया में दुष्क्रियात्मक और प्रचारात्मक हथकण्डे अपनाकर अपना उल्लू तो सीधा कर ही सकता था। इस बात की आशंका सान्दिनिस्ताओं को थी तो ज़रूर, लेकिन अमेरिकी प्रेक्षकों को अन्तरराष्ट्रीय प्रेक्षकों के दल से बहिष्कृत करने या उसमें ना शामिल होने देने की निकारागुआई सरकार की न तो हैसियत थी और न ही साहस।

''प्रेक्षण की आड़ में किये जाने वाले हस्तक्षेप को प्रतिबन्धित करने के किसी भी प्रयास को वाशिंगटन ''स्वतंत्र चुनावों में व्यवधान डालना'' कहकर खारिज कर देता। साथ ही यह भी था कि निकारागुआ के पास न तो इतनी जानकारी थी और नही इतने संसाधन कि वह वैध प्रेक्षकों और पूर्व-नियोजित सान्दिनिस्ता-विरोधी सक्रिय तत्वों के बीच स्पष्ट भेद कर सके। अत: अमेरिकी प्रेक्षकों के विरुद्ध एक भेदभाव की नीति अपनाना पूर्णत: न्यायोचित होते हुए भी यह खतरा तो था ही कि इससे अन्तरराष्ट्रीय समुदाय के सचमुच के निष्पक्ष प्रेक्षण में भी बाधा पड़ती।'

निकारगुआ के चुनावों की प्रेक्षण-प्रक्रिया में अपनी घुसपैठ बनाने के लिए अमेरिका ने कई तरीके अपनाये। 1990 के चुनावों की प्रक्रिया जैसे ही शुरू हुई, वाशिंगटन ने, भूतपूर्व कोण्ट्रा-कोष एकत्र करने वालों से लेकर पड़ोसी देशों में बदनाम अमेरिकी कूटनीतिज्ञों तक, हर किसी को पांच डॉलर में 'पर्यटक कार्ड' देकर मानागुआ भेजना शुरू कर दिया। लेकिन जब सावधानी के तहत निकारागुआई सरकार ने अमेरिकी नागरिकों के लिए वीजा हेतु आवेदन करना अनिवार्य कर दिया (क्योंकि निकारागुआइयों को अमेरिका में प्रवेश के लिए वीजा की जरूरत हमेशा से पड़ती थी।), तब अमेरिका ने इसका कड़ा प्रतिवाद किया, तथा लातिनी अमेरिका के सभी देशों में, अपने दूतावासों के माध्यम से, उन देशों में संचालित एन ई डी कार्यक्रमों के अध्यक्षों को एक सर्कुलर भेजा। चूंकि लातिनी अमेरिका के सभी देशों का मानागुआ के साथ यह समझौता था कि मानागुआ में प्रवेश के लिए उनके नागरिकों के लिए वीजा आवश्यक नही था, अत: इस सर्कुलर के द्वारा यह योजना बनायी गयी कि उन देशों के ''देशी'' एन ई डी कार्यकर्ताओं और अमेरिका द्वारा वित्तपोषित प्राइवेट स्वयंसेवी संगठनों के अध्यक्षों को अन्तरराष्ट्रीय प्रेक्षक समूहों में शामिल करके निकारागुआ भेजा जाये।

इसके अतिरिक्त अन्य योजनाएं भी बनायी गयी। कोण्ट्रा समर्थक होने के कारण निकारागुआई सरकार द्वारा प्रवेश से वर्जित फार राइट वर्ल्ड फ्रीडम फाउण्डेशन के अध्यक्ष ब्रेण्ट बोज़ेल ने एक योजना प्रस्तुत की कि विभिन्न अमेरिकी समूह आपस में तथा अन्तरराष्ट्रीय प्रेक्षण समूहों में अपने प्रतिनिधियों की घुसपैठ करा दें। इस योजना के तहत बोजेल को सेण्टर फॉर डेमॉक्रेसी (सी एफ डी) की ओर से निकारागुआ जाने वाली प्रेक्षण-टीम में शामिल कर लिया गया।

नवम्बर 1989 में ही बुश प्रशासन ने एकतरफा घोषणा कर दी कि अमेरिकी कांग्रेस के सदस्यों को मिलाकर गठित एक शिष्टमण्डल, अमेरिकी राष्ट्रपति की ओर से, निकारागुआ के चुनावों की निगरानी करने जायेगा। इस घोषणा के पहले न तो निकारागुआई सकार से और न ही निकारगुआई दूतावास से कोई सम्पर्क किया गया था। फिर भी निकारागुआई विदेश मंत्रालय ने इसे इस शर्त पर स्वीकार करने का प्रस्ताव रखा कि मध्य अमेरिकी शान्ति समझौते के अनुसार, अमेरिका कोण्ट्राओं को समारिक सहायता देना बन्द कर दे और एजेन्सी फॉर इण्टरनेशनल डेवलेपमेण्ट (ए आइ डी) के माध्यम से कोण्ट्रा सहायता कार्यक्रम को उपयुक्त अन्तरराष्ट्रीय मानवीय एजेन्सियों के हवाले कर दे। इसपर अमेरिका भड़क उठा और उसने कड़ा पत्र डैनियल ओर्तेगा को लिखा। उसने निकारागुआई सरकार के इस शर्तबन्द जवाब का प्रतिवाद राष्ट्रसंघ में भी किया।

इनके अतिरिक्त, दिसम्बर 1989 से लेकर जनवरी 1990 तक, अमेरिका तरह-तरह के मिथ्या-प्रचार और कुत्सा-प्रचार करता रहा : दिसम्बर 1989 मे मानागुआ स्थित अमेरिकी दूतावास की मदद से सेण्ट्रल अमेरिका ब्यूरो ने सान्दिनिस्ता सरकार के यू एन ओ उम्मीदवारों पर ''बढ़ते हिंसात्मक आक्रमण'' और उन्हें ''उम्मीदवारी छोड़ देने को मजबूर करने'' आदि की छल-नियोजित रिपोर्ट प्रचारित करके चुनाव ''निष्पक्ष न होने देने'' का आरोप लगाया। इतना ही नहीं जनवरी 1990 में अमेरिका ने एक ''गोपनीय'' ज्ञापन भी तैयार किया जिसमें ''निकारागुआ में चुनावी माहौल के खराब होने'' की बात कही गयी। इस ''गोपनीय'' ज्ञापन को सभी यूरोपीय देशों के विदेश मंत्रियों को फैक्स द्वारा भेजा गया। इस पर स्वयं अमेरिकी अखबार वाशिंगटन पोस्ट तक को कह देना पड़ा कि अमेरिका ''जानबूझकर चुनावी अभियान की अनियमितताओं को बढ़ा-चढ़ाकर'' पेश कर रहा था। इस अखबार ने एक राष्ट्रसंघ प्रतिनिधि को यह कहते हुए उद्धृत भी किया कि ''आप राजनीतिक छल वियोजन की कोशिश तो देख ही रहे हैं''. वास्तव में , अमेरिका ''हर सम्भव प्रयास कर रहा था, जिससे यह मालूम पड़े कि सान्दिनिस्ता के भयादोहन के कारण (यू एन ओ का चुनावी) अभियान समाप्त प्राय है ... लेकिन, अखबार ने लिखा ''जब हमारे प्रेक्षक ठोस तथ्य मांगते तो अपने आरोपों को सिद्ध करने के लिए तथ्य देने में उनकी घिग्घी बंध जाती थी।'' सच्चाई तो यह थी कि यू एन ओ का समूचा चुनावी अभियान अमेरिका द्वारा ही नियोजित किया जाता था और कठिनाइयां तो सान्दिनिस्ताओं के लिए पैदा की जाती थी।

निकारागुआ में ''चुनावी सहायता'' हेतु बुश प्रशासन ने अमेरिकी कांग्रेस से 90 लाख डॉलर की मंजूरी भी ले ली थी। इस रकम को इनईडी के जरिए खर्च किया जाना था। लेकिन इसका मतलब यह कतई नहीं था कि निकारागुआ में चुनावी प्रक्रिया के दौरान सीआइए की गतिविधियां निरस्त कर दी गयी थीं। भले ही कांग्रेस के कुछ उदार सदस्यों ने सीआइए के हस्तक्षेप की निन्दा की थी, परन्तु अमेरिकी हस्तक्षेप-कार्यक्रम और ''चुनावी सहायता'' के अन्तर्गत उसकी गतिविधियों को बदस्तूर जारी रहना था, जैसा कि ह्वाइट हाउस के एक अधिकारी ने इसकी पुष्टि भी की थी : ''हम इस कार्यक्रम में गुप्त कार्रवाइयों और सीआइए की भागीदारी को खत्म नहीं करने जा रहे।'' हालांकि अमेरिकी कांग्रेस ने यह कानून तो पारित कर दिया कि सीआइए निकारागुआई चुनावों में गुप्त रीति से हस्तक्षेप नही करेगी, परन्तु महज यह कानूनी

भाषा का शिष्टाचार भर था, और इससे भी महत्वपूर्ण बात यह थी जैसा कि मानागुआ में अमेरिका के कानूनी सलाहकार पॉल रिचर ने अपने स्पष्टीकरण में कहा था, कि यदि ९० लाख डॉलर की मंजूरी ने " अमेरिका को यह अवसर प्रदान (कर दिया) कि वह (निकारागुआ में) विरोधी पक्ष की खुली सहायता करे, तब (अमेरिका को) गुप्त उपायों का सहारा लेने की आवश्यकता ही नही (पड़ेगी)" और उल्लेखनीय है कि निकारागुआ की सरकार ने विरोधी पक्ष को दी जाने वाली इस खुली सहायता को वैध भी मान लिया था। इस प्रकार चुनावी हस्तक्षेप की वैधता स्वीकार कर लिए जाने से अमेरिकी राजनयिकों, कूटनीतिज्ञों और चुनावी छल-नियोजकों को खुली छूट मिल गयी।

९० लाख डॉलर की मंजूरी के साथ साथ "खुली सहायता" के वैधिकीकरण ने अमेरिका को यह सुभीता प्रदान कर दी कि वह सी आइ ए के जरिए कॉण्ट्राओं को दी जाने वाली ग्यारह करोड़ डॉलर की रकम को भी सान्दिनिम्ता-विरोधी "नागरिक कार्रवाइयों" और चुनावी प्रक्रिया को प्रभावित करने वाले एजेण्टों की गतिविधियों के लिए मुहैय्या कर दे, और उसने ऐसा किया भी।

निकारागुआई चुनावों में सान्दिनिम्ता-विरोधी हस्तक्षेप और विरोध-पक्ष को हर प्रकार की मदद करने के साथ ही साथ अमेरिकी रणनीति की सारभूत बात यह थी कि उसने वोट को जनमत संग्रह में तब्दील कर दिया :"युद्ध" या "युद्ध नहीं" के रूप में। इसके लिए मनोवैज्ञानिक युद्धनीति का भरपूर इस्तेमाल किया गया तथा सान्दिनिस्ताओं को "युद्धोन्मादी" तथा यू एन ओ को "युद्धविरोधी" और "जनता के हित" के रूप में प्रचारित किया गया। चूंकि आम जनता दस वर्षों की रगड़ घिसाई के कष्टभोगों से बुरी तरह तंग आ ही चुकी थी और हालात में बदलाव की उत्कट आकांक्षी थी, अत: अमेरिका-निर्देशित यू एन ओ के चुनाव-प्रचार का प्रमुख नारा ही यही था : "यू एन ओ ही हालात बदल सकता है।"

निकारगुआ में अमेरिका द्वारा किये गये चुनावी हस्तक्षेप का निचोड़ प्रस्तुत करते हुए, रॉबिन्सन का कहना है : "अमेरिका की चुनावी हस्तक्षेप की परियोजना को केवल तभी समझा जा सकता है जब इसे इसकी समग्रता में देखा जाये-जैसे सैनिक आक्रमण, आर्थिक ब्लैकमेल, सीआइए का प्रचार, एन ई डी का राजनीतिक हस्तक्षेप, दबावकारी कूटनीति और इन सबको एक सुसंगत और एकीकृत रणनीति में संयुक्त कर देने के अन्तरराष्ट्रीय दबाव के रूप में। यह समग्रता इन अंशों के कुल योग से भी कहीं अधिक थी। और इस परियोजना को दस वर्षों की एक चरम परिणति के रूप में अर्थात १९८० के दशक के दौरान वाशिंगटन द्वारा अपनायी गयी नम्बर एक की विदेश नीति के कार्यक्रम के एक चरमोत्कर्ष के रूप में ही समझा जा सकता है। समूची आबादी युद्ध और आर्थिक संकट से बुरी तरह टूट चुकी थी। बुश की रणनीति यही थी कि इस बुरी तरह की टूटन का भरपूर लाभ चुनावों के मार्फत उठाया जाये।"

पुस्तक के अन्तिम, आठवें अध्याय में रॉबिन्सन ने अपने सम्पूर्ण विश्लेषण का समाहार प्रस्तुत करते हुए कहा है:

"निकारागुआ में अमेरिकी हस्तक्षेप ने वास्तविक जनतंत्र को उलट दिया। अमेरिकी नीति को इस प्रस्थापना से एक सुविधाजनक विचारधारात्मक आधार मिल गया कि सान्दिनिम्ताओं के अन्तर्गत निकारागुआ अजनतांत्रिक था। फिर भी निकारागुआ को जनतंत्र की दिशा में "प्रबोधित करने" को कौन कहे, अमेरिका ने उस देश में जनतंत्र को ऐतिहासिक रूप से बाधित ही किया, तथा निकारागुआई जनता के सर्वाधिक राष्ट्रीय और मानवीय अधिकारों का दमन और निषेध ही किया। पहले तो अमेरिका ने सोमोजा की तानाशाही को टिकाये रखा और फिर उसके बाद १९८० के दशक में उसने जो नीति लागू की उसका उद्देश्य सान्दिनिम्ता क्रान्ति द्वारा शुरू किये गये जनतंत्रीकरण को कुचल देना था।

पुनश्च "जनतंत्र का अर्थ है जनता का शासन या जनता की सत्ता। जनतंत्र का अर्थ है जनता द्वारा अपने सभी महत्वपूर्ण मामलों पर नियंत्रण। इसका अर्थ है जनता द्वारा अपने समाज के समस्त भौतिक और सांस्कृतिक संसाधनों पर नियंत्रण। और अन्तत: इसका अर्थ है जनता द्वारा अपनी नियति-अपने आत्मनिर्णय पर नियंत्रण लेकिन अमेरिका ने जनता पर और इस मामले में निकारागुआइयों पर, अपनी इच्छा आरोपित करके जनतंत्र के अर्थ को ही पलट दिया।"

रॉबिन्सन ने अपनी इस पुस्तक के अन्त में दिये गये अपने "पोस्टस्क्रिप्ट" में पर्याप्त साक्ष्यों के आधार पर यह महत्वपूर्ण तथ्य भी उद्घाटित किया है कि निकारागुआ में चुनावों के बाद अमेरिकी हस्तक्षेप बन्द नहीं हुआ है, बल्कि "एक नये चरण में प्रवेश" कर गया है। चुनावोत्तर अमेरिकी हस्तक्षेप की नीति के तहत एन ई डी, ए आइ डी (एजेन्सी फॉर इण्टरनेशनल डेवलेपमेन्ट) और अन्य अमेरिकी एजेन्सियों की 'गतिविधियों' का विवरण देते हुए उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि निकारागुआ में चुनावोत्तर अमेरिकी हस्तक्षेप का उद्देश्य निकारागुआ के राज्य और समाज पर से सान्दिनिस्ता, प्रभाव के अन्तिम अवशेष तक को भी मिटाकर, पूरी तरह अमेरिकी वर्चस्व कायम कर लेना है।

लेकिन इसके बावजूद तब यह रॉबिन्सन की निम्न बुर्जुआ बौद्धिक विडम्बना ही कही जायेगी कि "अमेरिकी हस्तक्षेप के बावजूद निकारागुआई चुनाव वस्तुत: इसी कारण एक महत्वपूर्ण उदाहरण थे कि एक वामपंथी क्रांतिकारी आन्दोलन ने अपने संघर्ष को एक वैधिक चुनावी रणक्षेत्र में - एक ऐसे रणक्षेत्र में असली जनतंत्रीकरण और सामाजिक परिवर्तन के लिए स्थित कर दिया जो क्रान्तिकारी आन्दोलनों द्वारा प्राय: अवैध ही माना जाता था।" और कि " सान्दिनिस्ताओं ने निकारागुआ में दक्षिणपंथ के लिए गुंजाइश का द्वार खोल दिया, दक्षिणपंथ के लिए तथा अमेरिका के लिए इस जनतांत्रिक गुंजाइश को ग्रहण करने के अलावे अन्य सारे विकल्पों को खत्म कर दिया।"

दरअसल यहीं पर रॉबिन्सन का निम्न बुर्जुआ उग्रपरिवर्तनवादी दृष्टिकोण - जो सारतः एक बुर्जुआ दृष्टिकोण ही है - पूरी तरह निरावृत हो जाता है। पीछे दिये जा चुके उद्धरण मे वह जिस प्रकार "जनतंत्र" की वर्ग-निरपेक्ष परिभाषा कर आये है, वह इसी निम्न बुर्जुआ उग्रपरिवर्तनवादी दृष्टिकोण का बुर्जुआ विभम्र है। और यहीं पर, प्रसंगवश, यह भी कह दें कि ठीक यही बात सान्दिनिस्ता क्रान्ति के वर्ग चरित्र और वर्ग दृष्टिकोण पर भी अक्षरश: लागू होती है। 'भूमण्डलीकरण' की प्रक्रिया के तहत साम्राज्यवाद के उभरे नये तेवर, 'जनतांत्रिक आक्रमण', के इस नये दौर मे निम्न बुर्जुआ उग्रपरिवर्तनवादी (जनवादी, नव-जनवादी या राष्ट्रीय) क्रान्तियां अब अप्रासंगिक हो चुकी है। यदि अब ऐसी 'क्रान्तियां' कहीं होती भी है, या यदि कहीं चल भी रही है, तो अन्तत: उनका बुर्जुआ विभ्रम का शिकार होकर बुर्जुआ व्यवस्था में पतित हो जाना उनकी अपरिहार्य नियति है।

निकारागुआ में यही हुआ।

●

राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त

अध्याय आठ

पूंजीवाद के असाध्य रोग

आर्थिक संकट

आर्थिक संकट पूंजीवादी आर्थिक विकास की स्वाभाविक पैदावार हैं। वे पूंजीवादी उत्पादन, विनिमय, वितरण और पुनरुत्पादन के विभिन्न अन्तरविरोधों के घनीभूत होते जाने की सुस्पष्ट अभिव्यक्तियां होते हैं। पूंजीवादी आर्थिक संकट उत्पन्न कैसे होते हैं? पूंजीवादी विकास पर उनका क्या प्रभाव पड़ता है? हम इस अध्याय में इन्हीं प्रश्नों पर चर्चा करेंगे।

आर्थिक संकट पूंजीवाद के मूलभूत अन्तरविरोधों के घनीभूत होते जाने का परिणाम होते हैं

पूंजीवादी आर्थिक संकट अतिउत्पादन का संकट है

पूंजीवाद के पहले भी (उदाहरण के लिए, चीन के सामंती समाज के लम्बे इतिहास में) अनेक सामाजिक, आर्थिक और आजीविका संबंधी संकट पैदा हुए थे। भूस्वामी वर्ग द्वारा किसानों के बर्बर शोषण, युद्ध की तबाही, और बाढ़, सूखा, नाशक कीटों या आंधी-तूफान जैसी प्राकृतिक आपदाओं के कारण कृषि उत्पादन को भारी नुकसान पहुंचता था, मेहनतकश बेघर हो जाते थे और लाखों लोग भूख या प्लेग जैसी महामारियों से मर जाते थे। उस समय, सामाजिक, आर्थिक या आजीविका संबंधी संकट की अभिलाक्षणिकता थी, अपर्याप्त खाद्यान्न उत्पादन। पूंजीवादी आर्थिक संकट की अभिलाक्षणिकता अपर्याप्त उत्पादन नहीं बल्कि अति-उत्पादन है। भारी मात्रा में माल बिक नहीं पाते है, फैक्टरियां बंद हो जाती हैं, बैंकों का कारोबार ठप हो जाता है, शेयरों के भाव गिरने लगते हैं, बेरोजगारी तेजी से बढ़ती है, उत्पादक शक्तियों को भारी नुकसान पहुंचता है और पूरी अर्थव्यवस्था लकवाग्रस्त और अस्त-व्यस्त हो जाती है - ये पूंजीवादी आर्थिक संकट के प्रमुख लक्षण हैं।

पूंजीवादी आर्थिक संकट अति-उत्पादन के संकट होते हैं। पर यह तथाकथित "अति उत्पादन" निरपेक्ष अति-उत्पादन नहीं होता। इसका यह मतलब नहीं होता कि समाज द्वारा उत्पादित वस्तुएं इतनी ज्यादा हैं कि लोग उन सबका उपभोग नहीं कर सकते। आर्थिक संकटों के दौरान इस प्रकार की बातें आम होती हैं जिन्हें नीचे दिखाया गया है : कपड़ा मजदूरों को यह कहकर छंटनी की नोटिस पकड़ा दी जाती है कि सूत और वस्त्रों का उत्पादन इतना ज्यादा हो गया है कि उसकी बिक्री नहीं हो पा रही है, इसलिए उत्पादन में कटौती और मजदूरों की छंटनी करना जरूरी हो गया है। लेकिन कपड़ा मजदूर और उनके परिवार मुश्किल से तन ढांप पाते हैं। कपड़ा पैदा करने वाले कपड़ा खरीद नहीं पाते। खान मजदूरों को यह कहकर छंटनी की नोटिस थमाई जाती है कि कोयले का अतिउत्पादन हो गया है और उत्पादन तथा मजदूरों की तादाद दोनों में कटौती जरूरी है। लेकिन, खान मजदूर और उनके परिवारों को ठिठुरते हुए जाड़े की रातें काटनी होती हैं क्योंकि उनके पास कोयला खरीदने को पैसा नहीं होता। इसलिए, पूंजीवादी अतिउत्पादन सापेक्षिक अतिउत्पादन होता है। दूसरे शब्दों में, सामाजिक उत्पादन का आधिक्य केवल लोगों की क्रयशक्ति के सापेक्ष होता है। आर्थिक संकटों के दौर में मांग के अभाव में, पूंजीपति के गोदामों में माल का स्टाक जमा होता जाता है। विभिन्न माल पड़े-पड़े सड़ जाते हैं या यहां तक कि उन्हें जानबूझकर नष्ट किया जाता है। दूसरी ओर व्यापक मेहनतकश जनसमुदाय रोटी-कपड़ा खरीदने की भी क्षमता नहीं रखता और भुखमरी से जूझता रहता है।

अति-उत्पादन का आर्थिक संकट पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का एक विशेष लक्षण है। हालांकि माल अर्थव्यवस्था की विकास प्रक्रिया में शुरू से ही आर्थिक संकटों की संभावना छुपी रहती है। जब माल उत्पादक अपने माल को बेचता है तो हमेशा ऐसा नहीं होता कि वह प्राप्त धन से तत्काल उत्पादन के साधन खरीद ले, या कभी-कभी उसके साथ कारोबार करने वाले अन्य माल उत्पादक उसकी जरूरत का माल उसे बेच नहीं पाते। ऐसी स्थिति में, खरीद और बिक्री के बीच अव्यवस्था पैदा हो सकती है और संकट की संभावना बनी रहती है। लेकिन, जब माल उत्पादन छोटे माल उत्पादकों द्वारा किया जाता था और व्यक्तिगत (इंडिविजुअल) स्वामित्व पर आधारित था, तब उत्पादन का उद्देश्य उसके बदले में उत्पादन जारी रखने और निजी उपभोग के लिए आवश्यक माल हासिल करना था। इसलिए, आमतौर पर बिक्री के बाद ही खरीद कर ली जाती है। साथ ही, उत्पादक शक्तियां कम विकसित थीं और उत्पादन का पैमाना छोटा था। समाज का श्रम विभाजन सुविकसित नहीं था और उत्पादकों की अन्तरनिर्भरता बहुत अधिक नहीं थी। यदि खरीद और बिक्री के बीच अव्यवस्था पैदा हो भी जाती थी तो उसका असर स्थानीय होता था और पूरे समाज को प्रभावित करने वाले आर्थिक संकट की नौबत नहीं आती थी। इसलिए, हालांकि माल उत्पादन में ही संकटों की संभावना निहित रहती है, पर संकटों की अपरिहार्यता पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था में ही होती है।

आर्थिक संकटों का स्रोत पूंजीवाद के बुनियादी अन्तरविरोध में है

पूंजीवादी समाज में आर्थिक संकट अपरिहार्य हैं। यह पूंजीवाद के बुनियादी अन्तरविरोध से निर्धारित होता है। जैसा स्तालिन ने कहा है, "अति उत्पादन के आर्थिक संकटों का स्रोत और कारण स्वयं पूंजीवादी व्यवस्था में ही निहित है। संकट का स्रोत उत्पादन की सामाजिक प्रकृति और निजी स्वामित्व के अन्तरविरोध में है।"[1]

पूंजीवाद का बुनियादी अन्तरविरोध अपरिहार्यत: आर्थिक संकटों को क्यों जन्म देता है?

सर्वप्रथम, पूंजीवाद का बुनियादी अन्तरविरोध अपरिहार्यत: इस अन्तरविरोध में अभिव्यक्त होता है कि उत्पादक शक्तियां बड़े पैमाने पर बढ़ती हैं जबकि मेहनतकश जनता की क्रयशक्ति सापेक्षिक रूप में घटती जाती है। पूंजीवादी बड़े पैमाने का सामाजिक उत्पादन व्यक्तिगत दस्तकारी उत्पादन से बहुत भिन्न है। साधारण पुनरुत्पादन व्यक्तिगत उत्पादन की अभिलाक्षणिकता है। बाजार की अत्यन्त अनुकूल स्थितियों में भी, इसके उत्पादन में वृद्धि धीमी होती है। पूंजीवादी उत्पादन बड़ी मशीनों से होता है और उसमें तेजी से बढ़ोत्तरी हो सकती है। पूंजीपति अधिक मुनाफे की तलाश में उत्पादन का विस्तार करने का हर संभव प्रयास करता है क्योंकि जितने बड़े पैमाने पर उत्पादन होगा, उतना ही अधिक अतिरिक्त मूल्य वह उगाह सकेगा। साथ ही, पूंजीपति के लिए अपनी तकनीकों में सुधार लाना और उत्पादन का पैमाना बढ़ाना इसलिए भी जरूरी होता है ताकि दूसरे पूंजीपति उसे होड़ में धकिया कर बाहर न कर दें। उत्पादन के विस्तार के साथ-साथ उपभोग का स्तर भी बढ़ना चाहिए ताकि बढ़े हुए माल उत्पादन को बेचा जा सके और सामाजिक उत्पादन जारी रहे। लेकिन उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व के तहत पूंजीपति हमेशा मजदूरी को न्यूनतम संभव स्तर तक घटाने की कोशिश करता है। पूंजीवादी उत्पादन का विकास और नई तकनीकों का अपनाया जाना अपरिहार्यत: बड़ी संख्या में किसानों और दस्तकारों को दिवालिया बना देती है जिससे छोटी पूंजी बड़ी पूंजी द्वारा निगल ली जाती है। इस तरह, एक ओर उत्पादन का जबर्दस्त विस्तार होता है, दूसरी ओर मेहनतकश आबादी की क्रयशक्ति सापेक्षिक रूप से घटती जाती है। यह अन्तरविरोध अतिउत्पादन के आर्थिक संकट को अपरिहार्य बना देता है।

पूंजीवाद का बुनियादी अन्तरविरोध अपरिहार्यत: आर्थिक संकटों को जन्म इसलिए भी देता है क्योंकि यह अपरिहार्य रूप से इस अन्तरविरोध में अभिव्यक्त होता है कि अलग-अलग कारखानों में तो उत्पादन संगठित होता है पर सामाजिक उत्पादन में अराजकता व्याप्त रहती है। उत्पादन के सामाजिक होते जाने के साथ उत्पादन सेक्टरों के बीच और विभिन्न उद्यमों के बीच के सम्बन्ध और परस्पर-निर्भरता बढ़ती जाती है। उदाहरण के लिए कपड़ा मिल की सूत की जरूरत कृषि सेक्टर पूरा करता है जबकि कताई व बुनाई की मशीनें मशीन निर्माण उद्योग से आती हैं। इसलिए, एक निश्चित समय के दौरान, सूत, कपड़ा और कताई-बुनाई मशीनों की आवश्यक मात्रा का निर्धारण करने के लिए कोई एकीकृत योजना और व्यवस्था होनी चाहिए ताकि सामाजिक उत्पादन निर्बाध जारी रह सके। लेकिन पूंजीवादी निजी स्वामित्व पूरे समाज को विभिन्न स्वायत्त पूंजीवादी उद्यमों में बांट देता है। किसी एक उद्यम के नजरिए से देखें तो, इसके सारे मजदूर एक पूंजी द्वारा नियंत्रित होते हैं और इसका आंतरिक उत्पादन संगठित होता है। लेकिन समाज के नजरिए से, अलग-अलग पूंजीपतियों के विभिन्न उद्यम क्या और कितना उत्पादन करते हैं, यह एक-एक पूंजीपति का निजी मामला होता है। इसलिए, पूरे समाज का उत्पादन अराजक स्थितियों में जारी रहता है। सामाजिक उत्पादन असंयोजित होने के नाते अलग-अलग पूंजीपतियों के लिए किसी माल की वास्तविक मांग को जानना संभव नहीं होता। मुनाफा होता है तो पूंजीपति उत्पादन का विस्तार करने के लिए आपस में होड़ करेंगे। साथ ही, पूंजीवादी वाणिज्यिक गतिविधियां कृत्रिम मांग भी पैदा कर सकती हैं जो समाज की वास्तविक क्रयशक्ति को छुपाती है। हालांकि उत्पादन वास्तव में जनसाधारण की क्रय शक्ति से ज्यादा होता है, फिर भी जब तक बाजार में दाम चढ़ते रहेंगे, तबतक वाणिज्यिक पूंजीपति औद्योगिक पूंजीपतियों को माल का आर्डर देते रहेंगे और वित्तीय पूंजीपति औद्योगिक तथा वाणिज्यिक पूंजीतियों को ऋण मुहैया कराते रहेंगे ताकि औद्योगिक पूंजीपति उत्पादन का विस्तार कर सकें - और इस तरह बाजार में एक कृत्रिम समृद्धि बनी रहती है। यह कृत्रिम समृद्धि अतिउत्पादन की मौजूदगी और विकास पर पर्दा डालने का काम करती है। अन्तत: जब अतिउत्पादन पर से पर्दा हटता है तो यह ताबड़तोड़ आर्थिक संकटों के रूप में सामने आता है।

इस तरह हम देखते हैं कि आर्थिक संकटों का स्रोत स्वयं पूंजीवादी व्यवस्था में और पूंजीवाद के इस बुनियादी अंतरविरोध में निहित है कि उत्पादन तो सामाजिक होता है पर उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व होता है। जब तक पूंजीवाद रहेगा, आर्थिक संकट फूटते रहेंगे। संकट के खात्मे के लिए, पहले पूंजीवादी व्यवस्था का विनाश करना होगा।

आर्थिक संकट का मार्क्सवादी सिद्धान्त संकट को ढंकने के लिए गढ़े गए बुर्जुआ वर्ग के सभी झूठे सिद्धान्तों को ध्वस्त कर देता है

बुर्जुआ वर्ग और इसके पैरोकार पूंजीवादी आर्थिक संकटों के बारे में मार्क्सवाद के वैज्ञानिक निष्कर्षों से बुरी तरह डरते और नफरत करते हैं। संकटों और पूंजीवादी व्यवस्था का आपस में कोई सम्बन्ध नहीं है, यह दिखाने के लिए उन्होंने अपने दिमागों पर पूरा जोर डाल कर तमाम किस्म के झूठ गढ़ डाले हैं, ताकि मेहनतकश जनता को धोखा देकर इस शोषक व्यवस्था को बरकरार रखा जा सके। उदाहरण के लिए, इनमें से कुछ संकटों का स्रोत "अल्प उपभोग" को बताते हैं और संकटों को समाप्त करने के लिए "उपभोग उत्प्रेरण" का प्रयोग सुझाते हैं। वास्तव में, मेहनतकश लोगों द्वारा अल्प उपभोग पूंजीवाद के आने के साथ ही अस्तित्व में नहीं आया। जब से मानव समाज शोषक और शोषित वर्गों में बंटा, तभी से यह मौजूद है। लेकिन अति उत्पादन केवल पूंजीवाद में होता है। इस तरह, स्पष्ट है कि "अल्प उपभोग" के मत्थे मढ़कर अति उत्पादन की व्याख्या नहीं की जा सकती।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के सैन्यीकरण के परिणामस्वरूप कुछ पूंजीवादी देशों में कृत्रिम समृद्धि आयी। बुर्जुआ वर्ग के पैरोकारों को लगा जैसे डूबते को तिनके का सहारा मिल गया उन्होंने फटाफट यह अहमकाना घोषणा कर डाली कि, "जो लोग ऐसा सोचते हैं कि पूंजीवादी देश अपरिहार्यत: आर्थिक महासंकटों में फंस

जाएंगे, वे गलती पर हैं।'' पूंजीवादी राज्यों की सरकारों द्वारा राष्ट्रीय आर्थिक गतिविधियों में बढ़ती भागीदारी को उन्होंने ''स्वत: नियंत्रकों'' के रूप में देखा जो एक हद तक, पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के विकास को ''स्वत: स्थिरता की ओर प्रवृत्त करने'' का काम करेंगे। यह भी झूठ है। बुर्जुआ राज्य अर्थव्यवस्था के सैन्यीकरण या आर्थिक जीवन को नियंत्रित करने के लिए जो कुछ भी करता है, वह जनता के शोषण को घनीभूत करने वाले विभिन्न उपायों के जरिए किया जाता है। जैसा कि लेनिन ने काफी पहले चिन्हित किया था, ''संयुक्त राज्य अमेरिका में हो या जर्मनी में, 'आर्थिक जीवन को नियंत्रित' करने का नतीजा मजदूरों (और किसानों के एक हिस्से) के लिए सैनिक श्रम शिविरों का निर्माण तथा बैंकरों व पूंजीपतियों के लिए स्वर्ग की रचना करना होता है। इन देशों के नियंत्रक उपायों का मतलब होता है, मजदूर वर्ग से इस हद तक पेट काटने की मांग करना कि वह भुखमरी के कगार पर पहुंच जाए, जबकि दूसरी ओर (गुप्त और प्रतिक्रियावादी नौकरशाहाना तरीकों से) यह सुनिश्चित करना कि पूंजीपति का मुनाफा युद्ध के पहले से भी ज्यादा हो जाए।''[12] बुर्जुआ देशों में आर्थिक जीवन को नियंत्रित करने से पूंजीवादी अर्थव्यवस्था ''स्वत: स्थिरता की ओर प्रवृत्त'' नहीं हुई है; इसके विपरीत इसने पूंजीपतियों की अमीरी बढ़ाते हुए मेहनतकश जनता को और गरीब बनाया है तथा बाजार को घटा दिया है। पूंजीवाद का बुनियादी अन्तरविरोध लगातार घनीभूत होता गया है और पूंजीवाद के आर्थिक संकट और गंभीर हो गए हैं।

पूंजीवादी आर्थिक संकट के उत्तरोतर गंभीर होते जाने की प्रवृत्ति

पूंजीवादी आर्थिक संकट समय-समय पर फूटते रहते हैं

जब तक पूंजीवादी व्यवस्था रहेगी, पूंजीवाद का बुनियादी अन्तरविरोध अपना काम करता रहेगा। पूंजीवादी आर्थिक संकट ऐसी समस्या नहीं है जो एक या दो बार उपस्थित हो जाती है, बल्कि ये अपरिहार्यत: समय-समय पर फूटते रहेंगे। इतिहास में पीछे मुड़ कर देखें तो हम पाते हैं कि बड़े पैमाने पर पहला आर्थिक संकट 1825 में इंग्लैंड में पैदा हुआ था। उसके बाद 1836, 1848, 1857, और 1867 में फिर आर्थिक संकटों की पुनरावृत्ति हुई। औसतन हर दस वर्ष में एक बार वे पैदा होते रहे। इसके बाद तो और भी गंभीर संकटों का अनवरत क्रम बना रहा है।

आर्थिक संकट का चक्र दो संकटों के बीच का समय होता है। इसमें आमतौर पर संकट, मंदी, उबरने और आर्थिक उत्कर्ष के चार दौर होते हैं। इनमें से संकट का चरण बुनियादी है। यह पिछले संकट की समाप्ति और एक नये संकट का आरम्भ होता है।

संकट का दौर : प्राय: संकट एकाएक धावा बोल देते है। उनके आगमन के पूर्व बाजार में चौतरफा कृत्रिम समृद्धि दिखाई देती है और विभिन्न उद्योगों में ''कारोबार फलता-फूलता'' रहता है। हालांकि उत्पादन वास्तविक जरूरतों को तो पहले ही पार कर चुका होता है, पर क्रेडिट सिस्टम और सट्टाबाजारी गतिविधियों के चलते आर्डर पूरे करने और गोदाम भरने के लिए कारखाने पूरी गति से चलते रहते है। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की श्रृंखला की किसी एक कड़ी में विस्थापन के साथ अचानक एक आर्थिक संकट आ धमकता है। एक बार किसी एक क्षेत्र में अतिउत्पादन का पता चल जाता है और बिक्री मुश्किल हो जाती है, तो दूसरे क्षेत्र भी जल्दी ही प्रभावित होते हैं और 'चेन रिएक्शन' शुरू हो जाता है। उदाहरण के लिए, अतिउत्पादन के चलते ऑटोमोबाइल उद्योग में उत्पादन में कटौती या इसका निलंबन अपरिहार्यत: कोयला, विद्युत ऊर्जा और परिवहन उद्योगों को प्रभावित करेगा। शुरू में कृत्रिम समृद्धि को बढ़ाने में मदद करने वाले वाणिज्यिक सट्टेबाज अब घटे दामों पर अपने माल को जल्दी-जल्दी बेचने लगते हैं जिससे स्थिति और बिगड़ जाती है। अब गोदाम क्षमता से अधिक भरे होते हैं, बिक्री मुश्किल हो जाती है और दाम तेजी से गिरते हैं। दामों में गिरावट रोकने के लिए पूंजीपति को भारी मात्रा में मालों को नष्ट करने का भी सहारा लेना पड़ता है। धीमी बिक्री और गिरते दामों की मार से बहुत से छोटे और मंझोले उद्योग एक साथ दिवालिया हो जाते हैं और कई बैंक बंद हो जाते हैं। जो कारखाने चलते रहते है, वे अपने उत्पादन की दर कम कर देते है। इसी समय सभी उद्योगों के बेरोजगार मजदूरों की तादाद तेजी से बढ़ती है और पूरी आर्थिक स्थिति तेजी के साथ बिगड़ती चली जाती है।

मंदी का दौर : संकट के दौर के तूफानी धावों के बाद औद्योगिक और वाणिज्यिक उद्यमों में दिवालिया होने का ज्वार थम जाता है। संकट झेलकर बच रहे उद्यम अपनी गतिविधियां पहले से कमतर पैमाने पर चलाते हैं। हालांकि, दुकानें चमक-दमक से भरी दिखती हैं और उनके सेल्समेन जोर-शोर से चिल्लाते हैं, पर व्यापार निराशाजनक ही रहता है। बड़ी संख्या में मजदूर अब भी बेरोजगार रहते हैं। और उनके पास रोटी-रोजी का कोई जरिया नहीं होता। पूंजीवादी उद्योग, वाणिज्य और बैंकिंग व्यवसाय निराशा की स्थिति में रहते हैं। लेकिन, इस दौर में, सामाजिक उपभोग जारी रहता है। भारी नुकसान उठाने के बाद मालों के भंडार धीरे-धीरे, बहुत कम दामों पर बिकते हैं। निराशा की सतह के नीचे उत्पादन के संकट से उबरने को प्रोत्साहित करने वाले कारक धीरे-धीरे इकट्ठा होते रहते हैं।

उबरने का दौर : जमा हो गये मालों के भंडारों में कमी के साथ दाम धीरे-धीरे गिरावट से उबरने लगते है और मुनाफा क्रमश: बढ़ने लगता है। पूंजीपति एक तरफ मजदूर का शोषण और बढ़ा देते हैं, और दूसरी तरफ तकनीक सुधारते हैं तथा नये उपकरण खरीदते हैं। इस तरह, प्रथम श्रेणी के उद्योगों जैसे विद्युत ऊर्जा, लोहा-इस्पात और मशीन निर्माण में सबसे पहले उत्पादन का कदम-ब-कदम विस्तार होता है। इस श्रेणी में रोजगार धीरे-धीरे बढ़ने लगता है। और रोजगार में वृद्धि से उपभोक्ता सामग्रियों की मांग में भी वृद्धि होती है जो दूसरी श्रेणी में उत्पादन को बढ़ावा देती है। इस तरह उत्पादन क्रमश: उबरता है और बेरोजगारों की संख्या कम होती है। मंदीग्रस्त पूंजीवादी अर्थव्यवस्था फिर से उबरने के रास्ते पर चल पड़ती है।

उभाड़ का दौर : इस दौर की बुनियादी अभिलाक्षणिकताएं हैं- बाजार में मालों की तेजी से बिक्री, उच्च मुनाफा, उत्पादन और विनिमय की तेज होती गतिविधियां और क्रेडिट तथा सट्टाबाजारी गतिविधियों का फिर से शुरू हो जाना। बाजार में चौतरफा ''समृद्धि'' होती है। सभी पूंजीपति उत्पादन का विस्तार करने के लिए भरपूर जोर लगाते है। इस तरह व्यापक ''समृद्धि'' की सतह के नीचे एक और संकट के नये कारक लगातार एकत्र होते रहते हैं। एंगेल्स ने पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की इस जीवंत परिघटना का इस तरह वर्णन किया है : ''रफ्तार तेज हो जाती है; धीमे कदम तेज कदमों में बदल जाते हैं। औद्योगिक तेज कदम दौड़ते कदमों में बदल जाते हैं। दौड़ते कदम उद्योग, वाणिज्य, क्रेडिट और सट्टाबाजारी गतिविधियों की लंगड़ी दौड़ मे फर्राटा बन जाते हैं। अन्त में, कई अंतिम, बदहवास छलांगों के बाद

यह ध्वंस के रसातल में गिर पड़ते हैं।''[3]

संकट-मंदी-उबरना-उभाड़-संकट – यह आर्थिक संकटों की चक्रीय प्रवृत्ति की अभिलाक्षणिकता है। यह पूंजीवादी उत्पादन की चक्रीय प्रकृति को भी दर्शाता है। यह दिखाता है कि पूंजीवादी उत्पादन निरंतर प्रगति नहीं कर सकता, बल्कि यह केवल एक टेढ़े-मेढ़े रास्ते से होकर चल सकता है।

पूंजीवादी आर्थिक संकट लगातार बिगड़ते जाते हैं

पूंजीवादी उत्पादन की विकास प्रक्रिया में आर्थिक संकट बार-बार उभरते हैं। लेकिन हर संकट पिछले संकट का साधारण दोहराव नहीं होता। पूंजीवादी आर्थिक संकटों में लगातार बिगड़ते जाने की प्रवृत्ति होती है। विशेषकर, द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से आर्थिक संकटों की बारम्बारता और गम्भीरता बढ़ गई है। निम्नलिखित स्थितियों से यह बात साफ जाहिर होती है :

पहला, आर्थिक संकट का चक्र छोटा हो गया है और आर्थिक संकट ज्यादा जल्दी-जल्दी आने लगे हैं।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पहले, आर्थिक संकट दस वर्ष में एक बार आते थे। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के करीब 20 वर्षों में आर्थिक संकट का चक्र स्पष्टत: छोटा हुआ है।

आगे दी हुई तालिकाओं से हम देख सकते हैं कि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद (1970 तक) अमरीका और जापान में पांच आर्थिक संकट आये। पहले और पांचवे संकट के बीच औसत समय अमरीका में पांच वर्ष से कम और जापान में चार वर्ष से कम था। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद आर्थिक ससंकटों का चक्र उल्लेखनीय रूप से छोटा हो गया क्योंकि एकाधिकारी पूंजी के राज में मेहनतकश जनता का शोषण बढ़ता ही जाता है, उसकी क्रय शक्ति सापेक्षिक रूप से घट जाती है और घरेलू बाजार के संकट घनीभूत हो जाते हैं। इसके अलावा बाहरी दबाव तथा विभिन्न साम्राज्यवादी देशों के विस्तारवाद के चहेते साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशों एवं नवउपनिवेशों की जनता के बीच के अन्तरविरोध घनीभूत हो जाते हैं। यह उपनिवेशों एवं नवउपनिवेशों में राष्ट्रीय क्रान्ति को बढ़ावा देता है और परिणामस्वरूप विदेशी बाजारों का आकार घट जाता है। बिक्री एक स्थायी समस्या बन जाती है। इस तरह, उत्पादन और उपभोग के बीच अन्तरविरोध लगातार तीखा हो जाता है। ये यही बताते है कि पूंजीवाद के बुनियादी अन्तरविरोध तीक्ष्णतर होते जा रहे है ओर पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्ध उत्पादक शक्तियों के विकास की राह में पहले से भी ज्यादा बड़ा अवरोध बन गये है।

दूसरा, अचल पूंजी का अन्धाधुन्ध विस्थापन पूंजीवादी पुनरुत्पादन के अनुपात को और ज्यादा असन्तुलित कर देता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के पहले जब भी आर्थिक संकट फूटते थे, आम तौर पर, अचल पूंजी में निवेश तेजी से घटने लगते थे। लेकिन द्वितीय विश्व युद्ध के बाद, अचल पूंजी में निवेश, आम तौर पर, युद्ध से पहले के मुकाबले ज्यादा था। संकटों के दौरान भी निवेश का स्तर सापेक्षिक रूप से ऊंचा ही रहा। युद्ध के बाद अमरीका में पांचवे संकट के दौरान अचल पूंजी में निवेश केवल घटा नही, बल्कि यह और बढ़ गया। 1969 और 1970 के बीच इसमें 3.5 प्रतिशत की वृद्धि हुई। जापान में युद्ध के बाद के पांचवें संकट के दौरान 1971 में अचल पूंजी में निवेश 1970 के मुकाबले 3.2 प्रतिशत अधिक था।

युद्ध के बाद अचल पूंजी में निवेश का बढ़ा हुआ स्तर एक ओर यह दिखाता है कि एकाधिकारी पूंजीपति वर्ग मेहनतकश जनता का शोषण बढ़ाने के लिये राज्य मशीनरी का इस्तेमाल करता है तथा मजदूर से उगाहे गये अतिरिक्त मूल्य को पूंजी में तब्दील करता है। यह पूंजी संचय को तो तेज कर देता है, लेकिन साथ ही सर्वहारा वर्ग के कंगालीकरण को भी तेज कर देता है ओर जनता की क्रयशक्ति को और घटा देता है। दूसरी ओर, पूंजी में निवेश मुख्यत: सैनिक तैयारियों और शस्त्र उद्योग में था। न केवल भारी मात्रा में सामाजिक संसाधनों को बर्बाद किया गया, बल्कि पहली श्रेणी के उद्योगों का अनियंत्रित ढंग से विस्तार हुआ। परिणामस्वरूप, सामाजिक पुनरुत्पादन का स्तर और ज्यादा असन्तुलित हो गया और पूंजीवादी पुनरुत्पादन के अन्तरविरोध और तीखे हो गये। और पूंजीवादी आर्थिक संकटों की बारम्बारता और गम्भीरता बढ़ती गई।

तीसरा, मैन्युफैक्चरिंग क्षेत्र के संकट कृषि क्षेत्र के संकटों से गुंथे होते हैं और उनसे अन्तरक्रिया करते हैं जिससे समग्र आर्थिक संकट घनीभूत हो जाता है। पूंजीवादी व्यवस्था में आर्थिक संकट केवल मैन्युफैक्चरिंग में नहीं बल्कि कृषि क्षेत्र में भी उत्पन्न होते हैं। कृषि क्षेत्र का संकट कृषि पूंजीपति के गोदामों में इकट्ठा होते भंडार, थोक मूल्यों में गिरावट, कृषि के घटते रकबे, खेतिहर मजदूरों की बढ़ती बेरोजगारी, घटती मजदूरी और तमाम किसानों के दिवालिया होने के रूप में अभिव्यक्त होता है। मैन्युफैक्चरिंग संकट की ही तरह कृषि क्षेत्र के संकट भी अति उत्पादन से उपजते हैं और इनके मूल में पूंजीवाद के बुनियादी अन्तरविरोध होते हैं। जब तक पूंजीवादी व्यवस्था कायम है, कृषि में अति उत्पादन के संकट मैन्युफैक्चरिंग में अति उत्पादन के संकटों की ही तरह अपरिहार्य हैं।

लेकिन, मैन्युफैक्चरिंग के संकटों की तुलना में कृषि के संकट ज्यादा समय तक चलते हैं। 1948 में मैन्युफैक्चरिंग के संकट के साथ-साथ पहली बार कृषि क्षेत्र के संकट के फूट पड़ने के बाद के तेइस वर्षों में कृषि कभी भी अति उत्पादन से मुक्त नहीं हो पाई है।

औद्योगिक एवं कृषि क्षेत्र के संकटों का अन्तरगुंथन और अन्तरक्रिया युद्धोत्तर अमरीकी अर्थव्यवस्था की एक गंभीर समस्या बन गई है। औद्योगिक संकट बड़ी संख्या में उद्यमों के दिवालिया हो जाने, उत्पादन में कटौती, बेरोजगारी और वेतनों में गिरावट को जन्म देता है। इसके परिणामस्वरूप कृषि उत्पादों की मांग घट जाती है जिससे कृषि में अति उत्पादन की समस्या और बिगड़ जाती है। इसी समय, कृषि का संकट कृषि उत्पाद को भी नुकसान पहुंचाता है और खेतिहर मजदूरों को और गरीबी में धकेल देता है। नतीजतन, कृषि में उत्पादन के साधनों तथा मैन्युफैक्चरिंग उत्पादों की मांग घट जाती है और औद्योगिक अतिउत्पादन का संकट घनीभूत हो जाता है। औद्योगिक और कृषि संकटों के प्रभाव में पूंजीवादी आर्थिक संकट अपरिहार्यत: बिगड़ते ही जाते हैं।

चौथा, पूंजीवादी अतिउत्पादन का संकट राजस्व और वित्तीय संकटों के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा होता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद, जहां पूंजीवादी आर्थिक संकटों का चक्र छोटा हो गया, वहीं राजस्व और वित्तीय संकटों की आवृत्ति बढ़ गई। प्राय: राजस्व और वित्तीय संकट आर्थिक संकट के साथ-साथ उत्पन्न होते है। राजस्व और वित्तीय संकट, आर्थिक संकटों की ही तरह पूंजीवाद के बुनियादी अन्तरविरोध के और घनीभूत होते जाने का अपरिहार्य परिणाम होते है। उनके मुख्य लक्षण हैं : बजट घाटा, अंधाधुंध मुद्रा प्रसार, बढ़ती कीमतें, भुगतान असंतुलन, स्वर्ण भण्डार में कमी और मुद्रा अवमूल्यन।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद, साम्राज्यवादी शक्तियों ने राष्ट्रीय

तालिका-एक : युद्धोत्तर आर्थिक संकट – अमरीका

संकट की अवधि	औद्योगिक उत्पादन				अधिकतम बेरोजगारी (लाख व्यक्तियों में)	औद्योगिक उत्पादन में गिरावट के दौरान दिवालिया हुई इकाइयां
	संकट पूर्व अधिकतम	संकट के दौरान न्यूनतम	गिरावट (प्रतिशत)	गिरावट के महीने		
पहला 1948-49	अगस्त 1948	जुलाई 1949	8.6	11	41	9,246
दूसरा 1953-54	जुलाई 1953	अप्रैल 1954	9.9	9	37	7,724
तीसरा 1957-58	मार्च 1957	अप्रैल 1958	14.8	13	52	15,579
चौथा 1960-61	जनवरी 1960	जनवरी 1961	7.5	12	57.1	15,668
पांचवां 1969-70	सितम्बर 1969	नवम्बर 1970	8.1	14	55	13,629

तालिका-दो : युद्धोत्तर आर्थिक संकट–जापान

संकठ की अवधि	औद्योगिक उत्पादन				अधिकतम बेरोजगारी (लाख व्यक्तियों में)	औद्योगिक उत्पादन में गिरावट के दौरान दिवालिया हुई इकाइयां
	संकट पूर्व अधिकतम	संकट के दौरान न्यूनतम	गिरावट (प्रतिशत)	गिरावट के महीने		
पहला 1953-54	दिसम्बर 1953	अगस्त 1954	5.0	8	6.8	565
दूसरा 1957-58	जुलाई 1957	जून 1958	10.7	11	9.2	1, 565
तीसरा 1962	जनवरी 1962	दिसम्बर 1962	2.7	11	6.2	1, 652
चौथा 1964-65	दिसम्बर 1964	मई 1965	2.0	5	5.4	2,464
पांचवां 1970-71	जुलाई 1970	मई 1971	5.7	10	8	8,427.

आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करने के लिए सैन्य तैयारी और हथियार इकट्ठा करने के जरिए लगातार बिगड़ते हुए आर्थिक संकटों से मुक्त होने के असफल प्रयास किये। लेकिन सैनिक खर्चे और प्रतिरक्षा उद्योग के उत्पादन व्यय लगातार बढ़ते रहे जिन्होंने लाइलाज बजट घाटे को जन्म दिया। भारी प्रतिरक्षा खर्चों को पूरा करने के लिए साम्राज्यवादी देश कराधान बढ़ाने, विदेशी ऋण बढ़ाने, मुद्रा जारी करने और मुद्रास्फीति का सहारा लेते रहे है जिससे राजस्व संकट एक स्थायी परिघटना बन गये है। राजस्व वर्ष 1946 से 1971 के बीच अमरीका का बजट घाटा 137.9 अरब डालर तक पहुंच गया। सार्वजनिक ऋण 42,431 अरब डालर हो गया। खुद अमरीकी सरकार के अधिकारियों ने स्वीकारा कि "अमरीका का सार्वजनिक ऋण अन्य सभी देशों के सार्वजनिक ऋण अन्य सभी देशों के सार्वजनिक ऋण के जोड़ के बराबर हो गया है।" "यदि इस सार्वजनिक ऋण को एक डालर के नोटों में बदल दिया जाये तो उनसे बनी 35 फीट चौड़ी पट्टी से पृथ्वी को 1520 बार घेरा जा सकता है।"

मुद्रास्फीति की स्थिति बिगड़ने के साथ, मुद्रा का मूल्य गिरता चला जाता है जिसके परिणामस्वरूप कीमतें आसमान छूने लगती है। अतीत में, आर्थिक संकट फूटने के पहले, आम तौर पर, कीमतों के स्तर में गिरावट आती थी। लेकिन विश्वयुद्ध के बाद, पूंजीवादी देश राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के सैन्यीकरण पर जोर देते रहे है और सभी ने मुद्रास्फीति की नीति अपनायी है। परिमस्वरूप, संकट के दौरान कीमतें मिटी नहीं, बल्कि और चढ़ती रही है। उदाहरण के लिए, द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अमरीका में पांच आर्थिक संकट आये है। 1948-49 के संकट के अलावा अन्य चारों संकटों के दौरान कीमतें बढ़ी है। इससे साफ है कि क्रय शक्ति में गिरावट आयी। देश के अन्दर मुद्रा का अवमूल्यन अपरिहार्यत: विश्वबाजार में साख को प्रभावित करता है। अमरीकी साम्राज्यवाद ने एक के बाद एक हमलावर युद्ध छेड़े। दूसरे मुल्कों में तैनात सेना और कुल सैनिक खर्चो में भारी वृद्धि के कारण भारी मात्रा में अमरीकी डालर के बहिर्प्रहाव के चलते उसकी अन्तरराष्ट्रीय साख तेजी से गिरी। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से पूंजीवादी विश्व के वित्तीय बाजार में वित्तीय संकट बार-बार पैदा होते रहे हैं। अमरीकी डालरों की भारी बिक्री ओर स्वर्ण की बढ़ती मांग के चलते अमरीकी सरकार को दो बार डालर का

अवमूल्यन करने के लिए बाध्य होना पड़ा – एक बार 1971 के अंत में और फिर फरवरी 1973 में। पूंजीवादी विश्व में अमरीकी डालर का प्रभुत्व समाप्त हो चुका है।

आर्थिक और वित्तीय संकट साथ-साथ पैदा होने से पूंजीवादी अर्थव्यवस्था एक गहरे दलदल में फंस गई है। एक ओर तो आर्थिक संकटों के कारण उत्पादन में गिरावट आई है, मेहनतकश जनता की गरीबी बढ़ी है तथा पूंजीवादी दशों का राजस्व घटा है, जिसके परिणामस्वरूप भारी संचीय घाटा और भुगतान असन्तुलन पैदा हुआ है, जिससे कि राजस्व एवं वित्तीय संकट और गम्भीर हो गये है। दूसरी ओर, राजस्व एवं वित्तीय संकटों के बिगड़ने के साथ-साथ, मुद्रास्फीति, उच्चतर कराधान, वास्तविक मजदूरी में गिरावट तथा जनता की क्रयशकित में सापेक्षिक कमी ने अतिउत्पादन के आर्थिक संकट को और अधिक गम्भीर बना दिया है।

इस तरह हम देख सकते है कि पूंजीवादी आर्थिक संकटों की चक्रीय प्रकृति एक ऐसे दुश्चक्र का निर्माण करती है जो दिन ब दिन पहले से भी ज्यादा बिगड़ता जाता है। पूंजीवाद को अन्तर्निहित शत्रुवत अन्तरविरोध और तीखा हो जाता है। एक के बाद एक आने वाले संकटों ने पूंजीवादी विश्व को तूफानी बवण्डरों की तरह हिलाकर रख दिया है।

आर्थिक संकट पूंजीवादी शासन की बुनियाद कमजोर कर देते हैं

आर्थिक संकट पूंजीवाद के बुनियादी अन्तरविरोध को और तीखा कर देते है। संकटों के दौरान पूंजीपतियों के बीच प्रतिस्पर्धा और तेज हो जाती है बड़े उद्यमों के साथ होड़ में टिक पाने में अक्षम रहने वाले बहुत से लघु और मध्यम दर्जे के उद्यम पहले दिवालियां होते है। कर्जे चुकाने के लिए बहुत से मध्यम और लघु उद्यम नीलाम हो जाते है जिन्हें कुछ बड़े उद्यम मौके का फायदा उठाकर सस्ते में खरीद लेते है। इस तरह पूंजीवादी समाज में, हर संकट के बाद पूंजी कुछ पूंजीपतियों के हाथों में और अधिक संकेन्द्रित हो जाती है। उत्पादन और पूंजी का संकेन्द्रण तेज हो जाता है। उत्पादन और पूंजी के बढ़ते संकेन्द्रण का सीधा मतलब यह होता है कि पूंजीवाद का बुनियादी अन्तरविरोध यानी सामाजिक उत्पादन और पूंजीवादी निजी स्वामित्व के बीच का अन्तरविरोध और तीखा होता जा रहा है।

आर्थिक संकट पूंजीवादी समाज में वर्ग अन्तरविरोधों को तीखा कर देते है। संकटों के दौरान अपना घाटा कम करने के लिए पूंजीपति सीधे जनता पर हमला करते है। वे मजदूरों की बड़े पैमाने पर छंटनी करते है, मजदूरी घटाते है, मुद्रास्फीति का सहारा लेते है, टैक्स बढ़ाते है और सारा बोझ मेहनतकश जनता की पीठ पर पटकने की कोशिश करते है। इसी के साथ, संकटों के दौरान, पूंजीवादी उद्योग द्वारा कृषि का और शहरी क्षेत्रों द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों का शोषण भी बढ़ जाता है जिसके चलते बडे पैमाने पर किसानों में तबाही फैलती है। इस तरह, पूंजीवादी आर्थिक संकट मजदूर वर्ग और दूसरे मेहनतकश तबकों के लिए भारी मुश्किलें पैदा करते है। वे मजदूरों-किसानों तथा पूंजीपतियों और बड़े भूस्वामियों के बीच के अन्तरविरोध को और तीखा करके बुर्जुआ वर्ग के विरुद्ध सर्वहारा वर्ग के संघर्ष के ज्वार के बढ़ते जाने की परिस्थितियां तैयार करते है। इस तरह, पूंजीवादी शासन की बुनियाद पर लगातार प्रहार होते रहते है।

आर्थिक संकट पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों के बीच के शत्रुतापूर्ण अन्तरविरोधों को उजागर करके यह पूरी तरह स्पष्ट कर देते हैं कि पूंजीवाद मानव इतिहास का एक अल्पकालिक चरण है, कोई चिरस्थायी व्यवस्था नहीं। पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्ध विराट सामाजिक उत्पादक शक्तियों के लिए बहुत छोटे पड़ते है। ये उत्पादक शक्तियों के विकास को बुरी तरह अवरुद्ध कर रहे है। संकटों के दौरान, उत्पादक शक्तियों के बड़े पैमाने पर विनाश और उत्पादन में भारी कटौती के बाद ही उत्पादन और उपभोग के बीच का अन्तरविरोध बलपूर्वक और अस्थायी रूप से हल किया जाता है। लेकिन इसी समय, एक और संकट को जन्म देने वाले कारक इकट्ठा होते रहते है। आर्थिक संकटों के बिगड़ते जाने की प्रवृत्ति पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की विकास प्रक्रिया में अन्तर्निहित है। इससे स्पष्ट है कि पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्ध सड़ रहे है और इन्हें हटाकर ऐसे नये उत्पादन सम्बन्धों की स्थापना अनिवार्य है जो नयी उत्पादक शक्तियों की विकास की आवश्यकताओं को पूरा कर सकें। ऐसे उत्पादन सम्बन्ध है, समाजवादी उत्पादन सम्बन्ध।

प्रमुख सन्दर्भ

एंगेल्स, ड्यूहरिंग मत खण्डन, अध्याय 2

लेनिन, संकटों के सबक, सम्पूर्ण रचनाएं, खण्ड 5

समीक्षात्मक प्रश्न

1. पूंजीवादी आर्थिक संकटों का स्रोत क्या है?
2. आर्थिक संकट पूंजीवाद के पतन को तेज कर देते है। कैसे?

टिप्पणियां

1. "सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) की सोलहवीं कांग्रेस में प्रस्तुत राजनीतिक रिपोर्ट", **स्तालिन**, सम्पूर्ण रचनाएं, खण्ड 12

2. "आसन्न महाविपदा से बचने का रास्ता कहां है", **लेनिन**, सम्पूर्ण रचनाएं, खण्ड 25

3. **एंगेल्स**, ड्यूहरिंग मत खण्डन

(चीन में में महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान तैयार की गयी पुस्तक 'फंडामेंटल्स आफ पोलिटिकल इकॉनमी' (शंघाई पोलिटिकल इकॉनमी नाम से प्रसिद्ध) का हिन्दी रूपान्तर। जार्ज सी. वांग द्वारा सम्पादित तथा M.E. Sharpe, Inc. North Broadway, White Plains, New York 10603 से प्रकाशित अंग्रेजी संस्करण से हिन्दी अनुवाद ; **सत्यम वर्मा**)

प्रत्यूष कविता पोस्टर

1. निराला, मुक्तिबोध, वेणुगोपाल की कविताओं और आकर्षक चित्रांकनों से युक्त, मोटे कागज पर 20' x 30' आकार में

2. 'अगर, तुम युवा हो'

नये इंकलाब का परचम उठाकर आगे बढ़ने के लिए नौजवानों का आह्वान करता हुआ प्रभावशाली कविता पोस्टर, दो रंगों में, 15' x 30' आकार में

सहयोग राशि पांच रुपए ● प्राप्त करने के लिए सम्पर्क करें :

प्रत्यूष, द्वारा राहुल फाउण्डेशन, 3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ – 226010

अगर तुम युवा हो . . .

गरीबों-मजलूमों के नौजवान सपूतो!
उन्हें कहने दो कि क्रान्तियां मर गईं
जिनका स्वर्ग है इसी व्यवस्था के भीतर।
तुम्हें तो इस नर्क से बाहर निकलने के लिए
बन्द दरवाजों को तोड़ना ही होगा,
आवाज़ उठानी ही होगी
इस निज़ामे-कोहना के खिलाफ।
यदि तुम चाहते हो
आज़ादी,. न्याय, सच्चाई, स्वाभिमान
और सुन्दरता से भरी ज़िन्दगी
तो तुम्हें उठाना ही होगा
नये इंक़लाब का परचम फिर से।
उन्हें करने दो 'इतिहास के अंत
और 'विचारधारा के अंत' की अंतहीन बकवास।
उन्हें पीने दो पेप्सी और कोक और
थिरकने दो माइकल जैक्सन की
उन्मादी धुनों पर।
तुम गाओ
प्रकृति की लय पर ज़िन्दगी के गीत।
तुम पसीने और खून और मिट्टी और
रोशनी की बातें करो।
तुम बग़ावत की धुनें रचो।
तुम इतिहास के रंगमंच पर
एक नये महाकाव्यात्मक नाटक की
तैयारी करो।
तुम उठो,
एक प्रबल वेगवाही
प्रचण्ड झंझावात बन जाओ।

दूरभाष : 74669

प्रोग्रेसिव अरबन कोऑपरेटिव बैंक लि.

सेक्टर एच, अलीगंज, लखनऊ

विशेषताएं:

1. व्यावसायिक बैंकों से अधिक ब्याज।
2. जनता द्वारा जमा राशि अन्य बैको की भांति बीमायुक्त।
3. समाशोधन की सुविधा उपलब्ध।
4. समाज के कमजोर वर्ग हेतु ऋण सुविधा।
5. प्राथमिकता क्षेत्र में ऋण की विशेष सुविधा।
6. बेहतर ग्राहक सेवा।

आइये, सहकारिता से उन्नति कीजिये।

आशीष शुक्ला
उपाध्यक्ष

विक्रम पुनवानी
अध्यक्ष

अज्ञान एक राक्षसी शक्ति है और हमें डर है कि यह कई त्रासदियों का कारण बनेगा। सबसे महान यूनानी कवियों ने इसे मीकेन तथा थेब्स के शाही घरानों के जीवन के हृदयविदारक नाटकों में ठीक ही त्रासदीपूर्ण नियति के रूप में चित्रित किया है। — मार्क्स

मनुष्य को अचिन्तनशील, असामाजिक प्राणी में तब्दील कर देने वाली घोर प्रतिक्रियावादी संस्कृति के चौतरफा आक्रमण, घटिया साहित्य के घटाटोप और अपसंस्कृति के अंधेरे में जनता की संस्कृति का एक सजग प्रहरी

जनचेतना

प्रगतिशील साहित्य का उत्कृष्ट प्रतिष्ठान

देश विदेश की क्लासिकी कृतियां, प्रतिनिधि समकालीन साहित्य, मानविकी और विज्ञान की चुनी हुई स्तरीय पुस्तकें, मार्क्सवादी साहित्य, वामपंथी राजनीतिक पत्रिकाएं, प्रगतिशील साहित्यिक पत्रिकाएं, उत्कृष्ट और सस्ता बाल साहित्य, कविता पोस्टर, क्रान्तिकारी जनसंगठनों का प्रचार–साहित्य, प्रगतिशील गीत–संगीत के कैसेट, बिल्ले, स्टिकर, कैलेण्डर व हर प्रकार की क्रान्तिकारी प्रचार–सामग्री को आम जनता के बीच ले जाने के मिशन में हम पिछले नौ वर्ष से कार्यरत हैं।

इस मिशन में हमारे हमसफर बनें।

अच्छे साहित्य की खरीद को अपने बजट का जरूरी मद बनाएं। आज ही हमसे मिलें या डाक से पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें।

- जाफरा बाजार, गोरखपुर–273001 (मंगलवार अवकाश)
- हजरतगंज (काफी हाउस के निकट) लखनऊ (प्रतिदिन शाम 5 से 7 बजे तक, रविवार अवकाश)

DAYITVABODH November '95-February '96 पंजीयन संख्या – 56076/92 डाक पंजीयन संख्या – जी. आर.–145

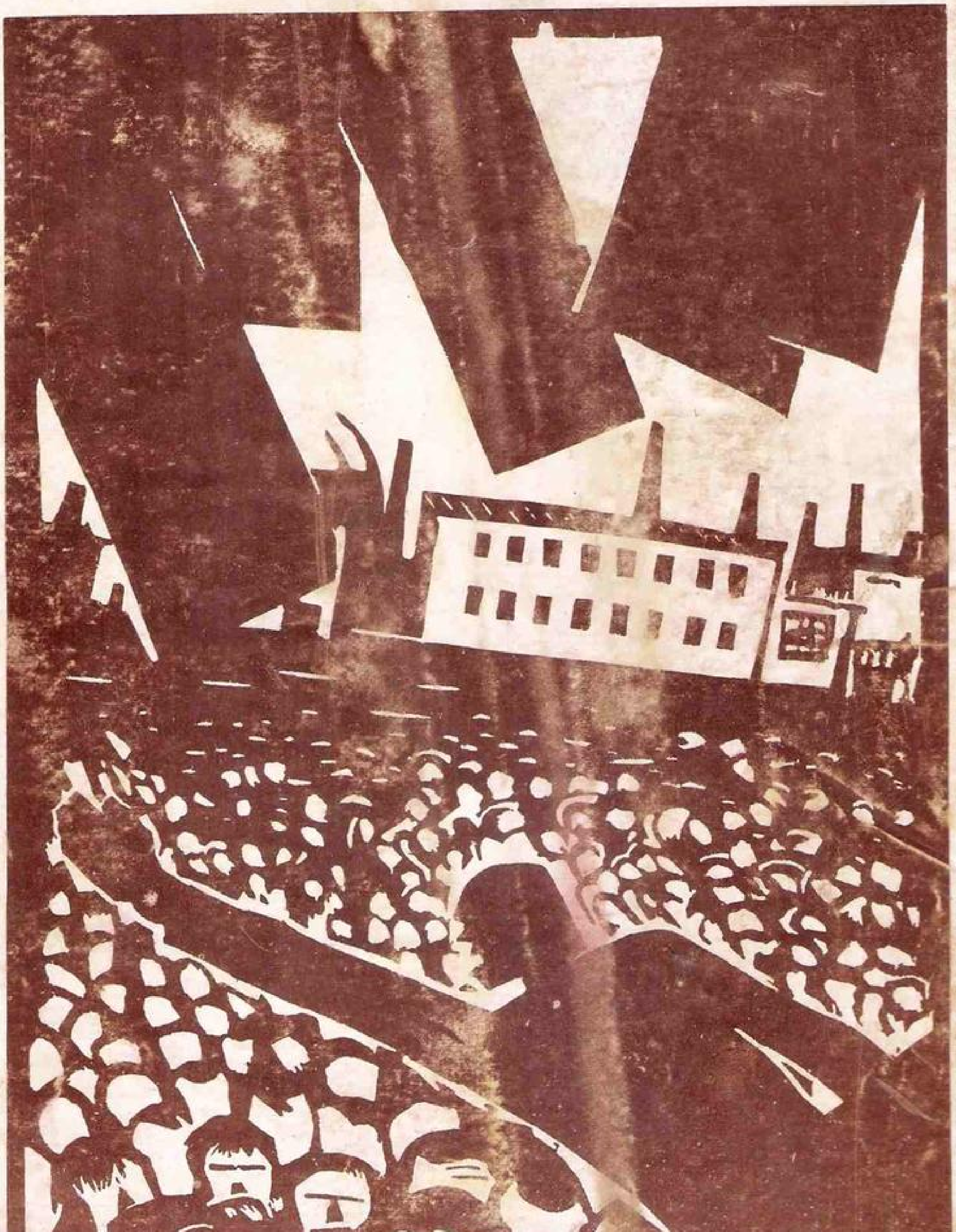

व्लादीमीर कोजलिंस्की का चित्र
मीटिंग